ज़िन्दगी की लहरें

प्रवचन

पण्डितप्रवर श्रद्धेय श्री पुष्करमुनिजी म०

सम्पादन

देवेन्द्रमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

पुस्तक में योग ※

पुस्तक :

जिन्दगी की लहरें

प्रवचन :

पं० प्रवर श्रद्धेय श्री पुष्करमुनिजी म०

सम्पादक :

देवेन्द्रमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जोधपुर [राज०]

प्राप्ति-स्थल :

भण्डारी सरदारचंद जैन
जैन बुकसेलर, त्रिपोलिया, जोधपुर

प्रथम प्रवेश :

सन् १९६५

मूल्य :

१.५० नये पैसे

मुद्रक :

साधना प्रेस, जोधपुर

• क्रम

सम्पादक - संकथन

मानव विश्व का शृंगार है, उससे बढ़ कर विश्व में कोई भी श्रेष्ठ व जेष्ठ प्राणी नहीं। असीम सुखों में निमग्न रहने वाले देव भी मानव की स्पर्धा नहीं कर सकते। वह अनन्त शक्ति और तेज का पुञ्ज है। विश्व का भाग्य-विधाता है, बेताज़ का बादशाह है। उसके तेजस्वी जीवन की चमक और दमक से विश्व आलोकित है। उसने अपनी प्रत्यग्र प्रतिमा के बल पर जो संस्कृति, सभ्यता और विज्ञान का नवनिर्माण किया वह अद्भुत है। उसकी परमार्थ की भावना भव्य है।

मानव का उर्वर मस्तिष्क पशुओं की तरह नीचे झुका हुआ नहीं है किन्तु दीपक की लौ की तरह सदा ऊपर उठा हुआ है। वह इस बात का प्रतीक है कि अनन्त आकाश की तरह उसके विचार विराट् हैं, सूर्य की तरह तेजस्वी हैं, चन्द्र की तरह सौम्य हैं, ग्रह नक्षत्रों की तरह सुखद हैं। वह चाहे तो इस भू-मण्डल पर अपने निर्मल विचार और पवित्र आचार से स्वर्ग उतार सकता है।

आज का मानव विकास के नये मोड़ पर है। विज्ञान रूपी दानव की असीम कृपा से उसने बाह्य प्रकृति पर विजय-वैजयन्ती फहरा दी है, पर स्वय की प्रकृति पर विजय नहीं पा सका है। यातायात की सुविधा से जैसे ससार सिमटता चला जा रहा है वैसे ही उसका मन भी सिमटता चला जा रहा है। उसमें स्नेह, सहयोग, सद्भाव का अभाव होता जा रहा है। वह बाहर से तो खूब चुस्त और दुरुस्त है पर भीतर से दायित्वशून्य है। उसमें स्पन्दन नहीं, संवेदना नहीं।

बरफ़ की आग की तरह स्पष्ट है कि विज्ञान ने मानव की एकाङ्गी प्रगति की है। वह जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की उन्नति नहीं कर सका है। आध्यात्मिक

पक्ष की उन्नति के बिना वह वरदान नहीं अपितु अभिशाप सिद्ध हो रहा है। आज मानव के जीवन रूपी सागर में आनन्द की तरगें तरंगित नहीं हो रही हैं। ऐसी विषम वेला में परम श्रद्धेय सदगुरुवर्य के ये प्राणमय प्रवचन भौतिकता की चकाचौंध में अपने आपको भूले और विसरे हुए मानव को सही दिशा-दर्शन देंगे, कर्तव्य-पथ पर वढने की पवित्र प्रेरणा देंगे।

इन प्रवचनों में अद्यतन कहानियों की तरह न शैली-शिल्प के गोरखधन्धे ही हैं और न नवीन कविताओं की तरह भाषा की दुरूहता और भावों का उलझाव ही है। जो है—सहज है, सरल है, सुगम है। प्रस्तुत प्रवचन प्रबुद्ध पाठकों के दिल को लुभाने वाले और मन को मोहने वाले हैं।

प्रकृत पुस्तक के सम्पादन में परम स्नेही सन्त मानस पं० श्री नेमिचन्द्रजी का मूल्यवान् सहयोग रहा है। साथ ही स्नेहमूर्ति श्री हीरामुनिजी, सिद्धान्त प्रभाकर साहित्यरत्न शास्त्री गणेशमुनिजी, जिनेन्द्रमुनि, विजयमुनिजी, रमेशमुनि, राजेन्द्रमुनि का स्नेहास्पद व्यवहार विस्मृत नहीं किया जा सकता।

जैनस्थानक - खाण्डप (राज०)

प्रकाश पर्व —देवेन्द्र मुनि

१९६५

प्रकाशकीय निवेदन

पाठको के कर-कमलो में 'जिदगी की लहरें' प्रदान करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। पण्डित-प्रवर परम श्रद्धेय प्र० श्री पुष्कर मुनिजी म० एक गंभीर विचारक, दार्शनिक, लेखक, कवि और प्रसिद्ध प्रवचनकार है। आपके प्रवचनो के अनेक सग्रह हिन्दी, गुजराती व राजस्थानी भाषा मे प्रकाशित हुए है।

प्रस्तुत सकलन में आपके द्वारा समय-समय पर मानव जीवन को अनुलक्ष मे लेकर किये गये प्रवचन है। इन प्रवचनो का सकलन और सम्पादन आपके ही अन्तेवासी श्री देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न ने किया है। सम्पादक की भाषा प्रवाहमयी और अंकन शैली आकर्षक एव प्रभावक है।

मुद्रण कला की दृष्टि से पुस्तक को सर्वाधिक सुन्दर बनाने का श्रेय राजस्थान हाई कोर्ट के प्रसिद्ध न्यायाधीश श्रीमान् इन्द्रनाथजी मोदी को है। समयाभाव व स्वास्थ्य अनुकूल न होने पर भी जिस उत्साह और लगन से उन्होने कार्य किया व पण्डित मुनि श्री के प्रति अमित निष्ठा व साहित्य प्रेम का स्पष्ट प्रतीक है।

जिन उदारमना महानुभावो ने हमे पुस्तक प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग प्रदान किया वे साधुवाद के पात्र है।

मन्त्री

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल

सहयोगी

प्रस्तुत प्रकाशन में जिन उदारमना महानुभावो ने आर्थिक सहयोग देकर अपनी साहित्यिक और सास्कृतिक भव्य-भावना का परिचय प्रदान किया है उनका हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं :—

३५१.०० शाह नरसिंहमलजी पुखराजजी दीपचन्दजी भवरलालजी, भारडा, वाया समदडी ।

३०१.०० शाह रिखबचन्द जुगराज ठि० रीड रोड ५ कुंडा अहमदाबाद न० २ ।

२०१ ०० शाह चुन्नीलालजी ऋखबचन्दजी सालेचा, भांरडा [स्वर्गीय उदयचन्दजी सालेचा के स्मरणार्थ]

१५१.०० सोहनराज घेवरचन्द ऋखबचन्द सावलचन्द सालेचा, भांरडा समदडी ।

१०१ ०० शाह सांकलचन्दजी बोथाजी करमावश (मारवाड़)

१०१.०० मुथा श्री छोगालालजी रिखबचन्दजी रामा वाया समदडी

१०१ ०० शाह बादरमल चम्पालाल एण्ड क० होलसेल क्लाथ मर्चेण्ट चीकपेठ डी. ए. लेन बेंगलोर २

५१.०० शाह सिरेमलजी सुमेरमलजी भारडा, वाया समदड़ी

ज़िन्दगी की लहरें

चिन्तन का केन्द्र

भारत के मननशील मनीषियो ने जीवन के सम्बन्ध में गभीर अनुचिन्तन किया है। दार्शनिक इतिहास का अवलोकन करने पर सहज ही ज्ञात होता है कि मानव की विचारधारा या चिन्तन-शक्ति का प्रमुखतम केन्द्र उसका जीवन ही रहा है। जीवन की गहनतम समस्याओ के समाधान हेतु ही जीवन के साथ-साथ रहने वाली अन्य समस्याओ पर भी चिन्तन किया है पर वह चिन्तन गौण रूप से ही। अन्य चिन्तन तभी तक ग्राह्य माना गया जब तक वह जीवन के लिए सहायक हो, बाधक होने पर उसे अग्राह्य माना गया। जीवन के सर्वांगीण चिन्तन के लिए यह अपेक्षित भी है।

जीवन क्या है ?

जीवन क्या है ? यह एक विकट पहेली है जिसे प्रबुद्ध विचारको ने सुलझाने का प्रयास किया है। विभिन्न चिन्तको ने अपनी-अपनी दृष्टि से जीवन की परिभाषाएँ की है। दार्शनिक की दृष्टि से जीवन एक चिन्तन है; साधक की दृष्टि से जीवन सरिता की धारा के समान अस्थिर है ; कवि की दृष्टि से जीवन एक काव्य है; योद्धा की दृष्टि से जीवन एक युद्ध है। जर्मन के गंभीर चिन्तक गेटे की दृष्टि से Life is the

childhood of our immortality'—जीवन अमरता का शैशव-काल है। शापन हॉवर की दृष्टि से 'Life is nothing, but postponement of death.'—जीवन अन्य कुछ नही, किन्तु कुछ समय के लिए मृत्यु की घड़ियो को टालना है। शेक्सपियर की दृष्टि से 'Out, out brief candle, life's but a walking shadow'—क्षणिक प्रकाश देने वाले दीपक वुझो, जीवन तो केवल एक चलती फिरती छाया है। भारतीय आचार्य की दृष्टि से 'दोष-विवर्जित यत्' दोष-रहित जीवन ही वस्तुत. जीवन है।

इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध मे विभिन्न विचार हैं, यद्यपि परिभाषा एक नही है, तथापि स्पष्ट है कि सभी का लक्ष्य जीवन को समझाने का है। जब तक जीवन नही समझा जाता तब तक ज्ञान-विज्ञान और कला निस्सार है।

एक महान दार्शनिक ने जीवन के तीन प्रकार बताये हैं—आसुरी-जीवन, दैवी-जीवन और अध्यात्म-जीवन।

आसुरी-जीवन

आसुरी-जीवन वह है जो भोग-विलास के, सत्ता-महत्ता के, राग-द्वेष के दल-दल मे फँसा हो। उसी को अपने जीवन का केन्द्र विन्दु बना कर जो जीवन की यात्रा करता हो। प्रति-पल प्रतिक्षण उसी को प्राप्त करने का प्रयास करता हो, उसी मे सच्चे सुख की अन्वेषणा करता हो। इस प्रकार आसुरी जीवन भोगवादी है। भारतीय दर्शनो मे एक चार्वाक दर्शन है, उस दर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा नामक कोई स्वतत्र वस्तु नही है। यह शरीर ही सब कुछ है। यह शरीर जब

तक है तब तक इस शरीर से जितना भी भोग-विलास का लाभ उठाना चाहो उठा लो। शरीर का नाश ही सर्वनाश है। इस दर्शन का जीवन सूत्र है—

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः।

जब तक जीओ, तब तक हँसते और मुस्कराते हुए जीओ। आनन्द और उल्लास के साथ जीओ। यदि आमोद-प्रमोद और भोग-विलास के लिए पास मे पैसा नही है तो कर्ज लेकर के भी मौज-मजा करो। डाका डाल कर भी भौतिक सुखों को प्राप्त करो। और जो भी तुम्हारे सुख में वाधक हो उन्हे समाप्त कर दो। यदि तुम्हारे मन मे यह भय का भूत हो कि परलोक मे दुष्कर्मों का फल भोगना पड़ेगा तो परलोक तो है ही नही। न तो आत्मा कही से आया है, और न आगे जाने वाला ही हैं, मृत्यु के पश्चात् सब कुछ समाप्त होने वाला है। अत खाओ, पीओ और मौज करो :—

Eat, Drink and be Merry.

आसुरी जीवन का आधार

आसुरीजीवन का आधार है वासना, कामना और इच्छा। जो शैतान के आत की भ्राति निरन्तर बढ़ती रहती है। सिसरो कहता है इच्छा की प्यास न कभी बुझती है और न कभी पूरी हो पाती है:—

The thirst of desire is never filled nor satisfied.

जीवन ससीम है और इच्छाए असीम हैं। आकाश की तरह अनन्त है। समुद्र की लहरो की तरह वे निरन्तर तरंगित होती रहती हैं। अतः आसुरी जीवन मे सच्ची शान्ति नही है। भारतीय महर्षियो ने इस जीवन को निकृष्ट जीवन माना है। इस जीवन के प्रान्त मे पश्चात्ताप है।

हार और दम्पति

एक युवक था। उसके पिता के पास करोडो की सम्पत्ति थी। पर भाग्य वदला, सम्पत्ति नष्ट हो गई। पिता का भी देहान्त हो गया। स्नेहियो ने एक वाला के साथ उसका पाणि-ग्रहण करा दिया।

एक दिन युवक को आमंत्रण पत्र मिला, वह आमत्रण पत्र था पैरिस के प्रसिद्ध उद्योगपति का। उसमे लिखा था कि सपत्नीक अवश्य ही टी पार्टी मे पधारे। उसने अपनी पत्नी से कहा। पत्नी ने कहा मै चलने को प्रस्तुत हूँ। किन्तु गले मे मोतियों का हार नही है, वस्त्र तो बहुत ही बढिया हैं किन्तु हार के विना शोभा नही है, और आप जानते ही हैं कि वहाँ अन्य भी उच्च घरानों की महिलाएँ आयेंगी और भूषणो से भूपित होगी और मै भूषण-रहित। अत' उपयुक्त यही है कि आप अपने मित्र के यहाँ से कुछ समय के लिए हार ले आवें। युवक को पत्नी की वात जंच गई और मित्र से चमचमाता हार मांग कर ले आया।

रात्रि को वारह बजे सपत्नीक युवक पुनः घर लौटा, और देखा कि पत्नी के गले मे हार गायब है। घबराया, इधर-

उधर देखा, पर हार का कही पता न लगा। मित्र को क्या उत्तर देना! उसे यह सूझ ही नही रहा था।

प्रातः होते ही वे दोनो एक प्रसिद्ध जौहरी की दुकान पर पहुँचे। मित्र जैसा ही हार देख कर उन्होने उसकी कीमत पूछी। जौहरी ने कहा—पांच लाख!

पांच लाख कहाँ से लाना! उस समय उसके पास पांच हजार भी नही थे। मित्र को हार लौटाना भी आवश्यक था। अन्त मे उन्होने जौहरी से यह समझौता किया कि चालीस वर्ष तक हम आपके यहा नौकरी कर इसका भरपाया कर देगे। जौहरी इस प्रकार प्रसन्न हो गया। उन्होने हार लेजा कर मित्र को दे दिया। उसके वहा वे दोनो नौकरी करते, और वह जो उन्हे बासी लूखी-सूखी रोटी के टुकड़े देता वह खाते तथा फटे-पुराने चीथड़े पहनते। चालीस वर्ष का समय पूरा हुआ। वहा से छुट्टी लेकर वे अपने घर आ रहे थे कि मार्ग मे वही पुराना मित्र मिल गया जिसके पास से उन्होने हार लिया था। वार्तालाप के प्रसग मे उन्होने उस दिन की बात मित्र को बताई और उसके लिए उन्हें कितनी कीमत चुकानी पडी वह भी बताई। उनकी बात सुन कर मित्र ने कहा भाई! गजब हो गया, वह हार जो तुम मेरे पास से लाये थे वह असली नही किन्तु नकली मोतियों का था, कल्चर का था। और उसकी कीमत दस रुपये थे। दस रुपये के हार को पांच लाख का समझ कर चालीस वर्ष बरबाद किये। बीस वर्ष की उम्र मे नौकरी की और साठ वर्ष के हो गये। सारी जवानी नष्ट

करदी। वह युवक दम्पत्ति पश्चात्ताप करने लगा। वैसे ही आसुरी जीवन वाला अन्त में पश्चात्ताप करता है। जिस तन-धन और वासना मे वह सुख की कल्पना कर जीवन भर लगा रहता है उसमें सच्चा सुख नही मिलता।

दैवी जीवन

दूसरा जीवन है दैवी जीवन। जिस जीवन मे अहिसा का आलोक हो, सत्य का सूर्य चमकता हो, प्रेम के प्रदीप जगमगाते हो वह दैवी जीवन है। दैवी जीवन मे मानवता का विकास होता है। दैवी जीवन वाला तन से ही मानव नही किन्तु मन से मानव होता है। किसी दीन दुखिया को देख कर उसका हृदय द्रवित हो जाता हैं और उसके दु ख को दूर करने का वह प्रयास करता है।

एक ऊची अट्टालिका के पास एक छोटी सी झौपड़ी थी, उस झौपडी मे एक विधवा बहिन और उसका प्यारा लाल रहता था। विधवा दिन भर पडौसियो के यहाँ चक्कियाँ चलाती, पानी भरती और उससे वह इतना काम पाती कि जिससे अपने प्यारे लाल को सूखे लूखे टुकड़े खिला सके और कुछ वस्त्र पहना सके। वह अनेक बार स्वयं भूखी रह कर अपने प्यारे लाल को खिलाती, स्वय फटे पुराने चीथड़े पहन कर अपने प्यारे लाल को अच्छे वस्त्र पहनाती। लडका जब पांच वर्ष का हुआ तब उसे स्कूल भर्ती कराया, दिन मे नाश्ता करने के लिए वह उसे एक लूखी रोटी व कुछ लाल मिर्ची देती जिसे वह छुट्टी होने पर एकान्त मे वैठ कर खाता, अन्य लडके

पैसे से अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खरीदते और वह टुगुर-मुगुर निहारता, मुंह में पानी आता, पर करता क्या! एक दिन उसने अपने साथी लड़के से पूछा—तुम हमेशा इतने पैसे कहां से लाते हो, तुम्हे कौन देता है पैसे? साथी ने मुस्कराते हुए कहा—इसमे पूछने की बात क्या है, पिता जी देते हैं।

लड़का घर गया, तुतलाती हुई जबान से बोला, माँ! मेरे पिताजी कहाँ हैं? स्कूल के सभी विद्यार्थियो को उनके पिताजी खाने के लिए पैसा देते हैं। बता माँ वो कहाँ हैं? मैं उनसे पैसे माँगूंगा?

गरीब विधवा माँ ने ज्यों ही यह सुना उसकी करुणा-विगलित आँखो से टप-टप आँसू बरसने लगे। सिसकियाँ उभरने लगी। अतीत की सारी स्मृतियाँ चलचित्र की तरह उसके सामने आने लगी। जब वह गर्भ मे था तो इसके पिता बीमार हुए थे और बीमार भी ऐसे हुए कि घर बेच दिया, आभूषण बेच दिये, जो कुछ भी था वह खर्च कर डाला, औषधियाँ दी, पथ्य का भी पूरा ध्यान रखा, पर वे बच नही सके···।

लड़के ने बीच मे ही रोक कर कहा, माँ! रोओ मत, तुम क्यो रोती हो; तुम मुझे बताओ पिताजी कहाँ हैं?

दु.खिया विधवा ने रोते-रोते कहा—'तेरे पिताजी ऊपर गये हैं, आकाश मे।' वह छोटा और अबोध बालक समझ नही सका। उसने चट से एक पत्र लिखा—

पूज्य पिताजी, प्रणाम! माँ रोती हुई कहती है कि पिताजी ऊपर गये हैं। अब जल्दी नीचे आओ। स्कूल के सभी

लडकों को उनके पिताजी पैसा देते हैं और मैं अकेला भूखा बैठा रहता हूँ अतः आप जल्दी आकर मुझे पैसा दो।

आपका प्यारा पुत्र

मिले पूज्य पिताजी को, ठि० ऊपर आकाश मे।

लडके ने आज ही पढा था कि लाल डिब्बे मे पत्र डालने से जिसके नाम का पत्र होता है उसे मिल जाता है। वह उसे डालने के लिए चला, पर वह लैटरबॉक्स ऊँचा था, वह उछल-उछल कर डालने का प्रयास करता, किन्तु डाल नही पा रहा था। इतने मे एक दयालु ने देखा, वह उसके पास गया। उसने डालने के लिए पत्र हाथ मे लिया, साधारण कागज पर और विचित्र अता-पता का पत्र देख कर उसने पढा, पढते ही सारी स्थिति का परिज्ञान हो गया। वह लड़के के साथ उसके घर गया और उस विधवा बहिन से बोला कि आज से इस बालक के अध्ययन आदि की पूर्ण व्यवस्था मैं करूँगा, तू मेरी धार्मिक बहिन है, अपना घर समझकर जो भी तुम्हे आवश्यकता हो सहर्ष ला सकती हो। उसने उदार हृदय से उसकी आर्थिक सहायता की। इस प्रकार जिसके अन्तर्मानस मे दया की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती हो वह दैवी जीवन है।

अध्यात्म जीवन

तीसरा जीवन है अध्यात्म जीवन। जिस जीवन मे तत्त्व के प्रति हिमालय के समान अविचल श्रद्धा हो, सम्यग् ज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाता हो और तदनुकूल सम्यक् आचरण,

किया जाता हो वह अध्यात्म जीवन है। अध्यात्म जीवन मे रत्न-त्रय का परम और चरम विकास होता है। जिस प्रकार गगा, यमुना और सरस्वती के सगम से प्रयाग तीर्थराज बन गया उसी प्रकार सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र के मधुर सगम से अध्यात्म-जीवन भी एक तीर्थराज सदृश बन जाता है। ये तीनो धाराएँ जब जीवन मे सतुलित रूप से बहती है तभी जीवन का पूर्ण विकास होता है। टेनीसन कहता है आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान और आत्म-सयम ; ये तीनो तत्त्व जीवन को परम शक्तिशाली बनाते हैं।

इन तीनो मे सर्व प्रथम सम्यग् दर्शन है। सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र भी इनके अभाव मे जैसी चाहिए वैसी गति-प्रगति नही कर सकते। सर्वप्रथम सत्य के प्रति दृढ निष्ठा चाहिए। जब निष्ठा होगी तभी ज्ञान का आनन्द आयेगा और तभी चारित्र की चारु चन्द्रिका जीवन मे चमकेगी। सम्यग् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ही भारतीय चिन्तको ने भक्ति-योग, ज्ञान-योग और कर्म-योग कहा है। इन तीनो का जब पूर्ण विकास होता है, तब आत्मा परमात्मा बन जाता है।

हाँ, तो जीवन एक सागर है, उसमे आनन्द की तरंगे तभी तरगित होगी जब आसुरी-जीवन से हटकर दैवी-जीवन और अध्यात्म-जीवन को अपनाया जायगा। भारतीय चिन्तन सदा इसी पर बल देता रहा है। आज का जन-जीवन जो अशान्त

है उसका मुख्य कारण आसुरी-जीवन ही है। आसुरी-जीवन को त्याग कर आप दैवी-जीवन और अध्यात्म-जीवन की ओर बढ़िये, आपका जीवन चमक उठेगा।

जीवन के कलाकार : सद्गुरु

एक यात्री

रात्रि का समय है। अन्धकार से भूमण्डल व्याप्त है। नेत्र सम्पूर्ण शक्ति लगा कर के भी देख नही पा रहे हैं। सुनसान जगल है। एक यात्री उस घनान्धकार में चल रहा है किन्तु तिमिर की अत्यधिकता के कारण मार्ग दिखलाई नही दे रहा है, उसके पैर लडखड़ा रहे हैं, वह दो कदम आगे बढ़ता है और दस कदम पुनः पीछे खिसकता है। वह कभी चट्टान से टकराता है और कभी गर्त मे गिर पडता है। वह कभी नुकीले तीक्ष्ण कांटों से बीधा जाता है तो कभी कोमल-कुसुमो के स्पर्श से नागराज की कल्पना कर भयभीत होता है। कभी उसे अज्ञात पशु और पक्षियो की विचित्र ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। भय की भीषणता से उसका हृदय काँप रहा है, बुद्धि चकरा रही है और मन विकल और विह्वल है। वह सोच नही पा रहा है कि मुझे किधर चलना है और मेरा गन्तव्य मार्ग किधर है ? ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति हाथ मे सर्चलाइट लेकर आये, और उस पथिक से कहे—घबराओ नही, भय से काँपो नही, मैं तुम्हें तुम्हारे अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देता हूँ। चलो, इस चमचमाते हुए दिव्य प्रकाश मे। तो बताइये ! उस पथिक

के अन्तर्मानस मे प्रसन्नता की कितनी लहरे तरंगित होगी उस समय। वह कितना प्रसन्न होगा।

कौन बतावे वाट

हम और आप भी यात्री हैं। आज से नही, अपितु अनन्त अनन्त काल से यात्रा कर रहे हैं, संसार रूपी भयानक जगल मे। अज्ञान का गहरा अन्धकार छाया हुआ है जिससे सही मार्ग दिखलाई नही दे रहा है। कभी हम स्वर्ग की चट्टान से टकराये हैं और कभी हम नरक के महागर्त मे गिरे हैं, कभी तीर्यंच के काँटो से वीधे हैं और कभी मानव-जीवन रूपी फूलो का भी स्पर्श हुआ है, कभी क्रोध-मान-माया और लोभ रूपी पशुओ ने हमारे मे भय का सचार किया है, हमारी स्थिति भी उस पथिक की तरह ही डावाडोल है। उस समय सद्‌गुरु ज्ञानरूपी सर्चलाइट लेकर आते है और शिष्य को कहते हैं कि घवराओ नही, मैं तुम्हे सही मार्ग बताता हूँ, ज्ञान के निर्मल प्रकाश मे चले चलो, बढे चलो अपने लक्ष्य की ओर। उस समय साधक का हृदय भी आनन्द-विभोर होकर गा उठता है :

गुरु विन कौन बतावे वाट।

पथ-प्रदर्शक

सद्‌गुरु सच्चा पथ-प्रदर्शक है। वह भूले-भटके और गुमराह इन्सानो को मार्ग दिखलाता है। हताश और निराश व्यक्तियो में विद्युत सदृश प्रेरणाएँ देता है। कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग की ओर बढाता है। वह मोह माया और मिथ्यात्व के अधकार से उबारता है एतदर्थ ही केशवदास ने गाया है :

सद्गुरु शरण विन,
अज्ञान तिमिर टलशे नहीं रे।

सद्गुरु के बिना शरण ग्रहण किये अज्ञान-अन्धकार कभी नष्ट नही होगा। गुरु शब्द का अर्थ ही वैयाकरणो ने गु-अन्धकार, रु-नाश करने वाला किया है। जो अज्ञान अन्धकार को नष्ट करता है वह गुरु है। कहा भी है—

गुशब्द स्त्वन्धकारस्य, रु शब्दस्तन्निरोधकः
अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥

चिनगारी

गुरु हमे ज्ञान की चिनगारी देते हैं, जैसे एक बहिन जिसे भोजन निर्माण करना है, पर पास मे माचिस नही है तो वह किसी सन्निकटस्थ पडौसी के वहाँ जाती है और उसके चूल्हे मे से एक चिनगारी लाती है तथा उसे सुलगा कर भोजन का निर्माण कर लेती है वैसे ही सद्गुरु के पास मे से ज्ञान की चमचमाती चिनगारी लेकर हमे अपने जीवन का नव निर्माण करना है।

पावर हाऊस

सद्गुरु ज्ञान का पावर हाऊस है। पावर हाऊस मे पावर पूर्ण हो, पर यदि बल्ब मे विकृति हो अथवा नेगेटिव पोजिटिव तार टूटे हुए हो तो आप कितना ही स्विच दबावें तो भी प्रकाश नही होगा। सद्गुरु रूपी पावर हाऊस मे ज्ञान का पूर्ण पावर भरा हुआ है। यदि हमारे जीवन रूपी बल्ब मे मिथ्यात्व की विकृति है या विनय और विवेक रूपी तार टूटे हुए हैं तो बडे

गुरु का शरण प्राप्त करके भी हम अपने जीवन को प्रकाशित नही कर सकते ।

भगवान् श्री महावीर के पास स्वर्ण महलो मे रहने वाले सम्राट् आये, राजा आये, राजकुमार आये, राजरानियाँ आईं, राजमाताएँ आईं, और राजकुमारियां आईं। ऊची अट्टालिकाओ मे रहने वाले इब्भ सेठ आये, सेठाणिया आईं, सेठ पुत्र आये, सेठ पुत्रिया आईं। टूटी फूटी झोपडियो मे रहने वाले दीन आये, अनाथ आये, पर जिनके जीवन रूपी बल्व मे मिथ्यात्व रूपी विकृति नही थी, जिनके विनय और विवेक रूपी तार टूटे हुए नही थे उनका जीवन प्रकाश से जगमगा उठा था, और जिनके जीवन रूपी बल्व खराव थे, और विनय-विवेक रूपी तार टूटे हुए थे उनके जीवन मे प्रकाश नही हो सका ।

भगवती सूत्र मे भगवान् श्री महावीर के जमाई जमाली का वर्णन है। वह भगवान् के पीयूषवर्षी प्रवचनो को श्रवण कर पाँच सौ क्षत्रिय कुमारो के साथ प्रव्रजित होकर भगवान् का शिष्य वनता है। आगमो का गभीर अध्ययन भी करता है, तप से आत्मा को तपाता भी है, पर जीवन रूपी बल्व विकृत था जिससे भगवान् सदृशी सर्वज्ञ सर्वदर्शी को प्राप्त कर के भी अपने जीवन को चमका नही सका। और मखली पुत्र गोशालक भी महावीर का अन्तेवासी बना। छह वर्ष तक निरन्तर छाया की तरह साथ रहा किन्तु वह अन्धकार मे ही भटकता रहा, अपने जीवन को प्रकाशित नही कर सका। भगवान् के अवर्णवाद से उसने अपनी आत्मा को अधिक काली

बना दी। सद्गुरु के शरण मे पहुच कर भी उसने अपना दिवाला निकाल दिया, एतदर्थ ही मैं कह रहा हू कि सद्गुरु मे ज्ञान का अखण्ड प्रकाश होने के बावजूद भी यदि शिष्य मे योग्यता नही है तो वह अपने जीवन को आलोकित नहीं बना सकता।

कलाकार

सद्गुरु एक सफल कलाकार है। कलाकार जैसे एक अन-घड पत्थर को ऐसी सुन्दर आकृति प्रदान करता है जिसे देखते ही दर्शक आनन्द-विभोर हो जाता है वैसे ही सद्गुरु भी असस्कारी आत्मा को ऐसी सस्कारी बना देता है कि जिसमें जीवन बोलने लगता है। अर्जुन मालाकार जो एक दिन हत्यारा था, जिसके नाम से राजागृह निवासी कापते थे, नगर से बाहर निकलने का नाम नही लेते थे किन्तु सुदर्शन के साथ वह भग-वान् श्री महावीर के चरणार्विन्दो मे पहुचता है और महावीर का शिष्य बन जाता है। बेले बेले वह पारणा करता है और पारणा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होकर जब नगर मे जाता है तब उसे अनेक ताडना तर्जना और त्रास दिया जाता है तब भी वह आक्रोश नही करता है, यह है सद्गुरु की कला।

अगुलीमाल जो एक दिन भयंकर डाकू था और अपने गले मे अगुलियो की माला पहना करता था, जिसकी आँखो से खून बरसता था किन्तु जीवन के कलाकार सद्गुरु महात्मा बुद्ध ने उसके जीवन को बदल दिया, हिंसक को अहिंसक बना दिया। और सम्राट प्रदेशी जो क्रूर, कठोर और निर्दय था, मनोविनोद

के लिए उसने अनेको को मौत के घाट उतार दिया था। प्रजाजन जिससे सदा भयभीत रहता था, पर चतुर चित्त की प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर महाश्रमण केशी महाराज उसके जीवन का निर्माण करने हेतु श्वेताम्बिका आते हैं और उसके जीवन को ऐसा बदल देते हैं कि महारानी सूर्यकान्ता के द्वारा विष दान देने पर भी सम्राट शान्त, प्रशान्त और उपशान्त रहते है। यह है सद्‌गुरु का चमत्कार।

स्टेशन

सद्‌गुरु जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन है। ट्रेन यदि स्टेशन पर रुकती है तो उसे वहां किसी भी प्रकार का खतरा नही होता, यदि उसमे किसी भी प्रकार की कोई विकृति उत्पन्न हो जाय तो वहा शीघ्र ही दुरुस्त की जा सकती है। स्टेशन पर ही उसे पानी मिलता है, कोयले मिलते हैं। और विश्रान्ति मिलती है। जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन सद्‌गुरु है, यदि हमारे जीवन मे किसी भी प्रकार की विकृति भी पैदा हो गई है तो सद्‌गुरु उसे शीघ्र ही ठीक कर देंगे।

दीक्षा की आज प्रथम रात थी, मेघ मुनि का आसन द्वार के पास लगा था। अन्धकार के कारण मुनियो के पैर व रजोहरण के स्पर्श से मेघ मुनि की निद्रा भग हो गई। चिन्तन चिन्ता मे बदल गया। मैं जब राजकुमार था तब ये मुनि जन मेरा सत्कार और सम्मान करते थे, मुझे प्रेम करते थे आज मुनि बनते ही यह स्थिति है कि—ठोकरे खानी पड़ रही हैं। श्रेयष्कर यही है कि प्रात महावीर को ये सारे वस्त्र पात्र

संभला कर गृहस्थ बन जाऊं। रात भर इस प्रकार मानस मे उधेड़बुन चलती रही, प्रातः महावीर के चरणो मे पहुँचे। सर्वज्ञ सर्वदर्शी महावीर ने उनको रात के समय मानस में उठी विचार-लहरियो पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि मेघ तू पूर्वभव मे कौन था, और किस प्रकार तूने कष्ट सहन किये और अब तनिक से कष्ट से घबरा गया है। मेघ का मानस दुरस्त हो जाता है। विवेक का निर्मल नीर तथा चिन्तन का खाद्य मिलते ही उसने प्रतिज्ञा ग्रहण की कि आज से मैं नेत्रो के अतिरिक्त सर्व-शरीर सन्तो के सेवा हेतु समर्पित्त करता हूँ।

कुशल नाविक

सद्गुरु जीवन रूपी नौका का सफल और कुशल नाविक है। जो संसार रूपी सागर मे से तथा क्रोध मान माया और लोभ रूपी तूफान में से सकुशल पार पहुचा देता है। एतदर्थ ही सद्गुरु की महिमा का बखान करते हुए एक वैदिक ऋषि ने कहा है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै सद्गुरवे नमः॥

महत्त्व

भगवान् से भी सद्गुरु का महत्त्व अधिक है। एक वैदिक ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है—भगवान् यदि रुष्ट हो जाय तो सद्गुरु बचा सकता है पर सद्गुरु रुष्ट हो जाय तो भगवान् की शक्ति नही जो उसे उबार सके।

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न च शिवः।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन, गुरुमेव प्रसादयेत्॥

दुर्लभ क्या ?

एक जिज्ञासु ने एक विचारक से पूछा—इस संसार में दुर्लभ क्या है ? 'किं दुर्लभ ?' विचारक ने गभीर चिन्तन के पश्चात् उससे कहा—अन्य वस्तुएँ मिलना सरल है, सहज है पर सद्गुरु का मिलना कठिन है, कठिनतम है 'सद्गुरुस्ति लोके' वस्तुतः सद्गुरु का मिलना बड़ा ही कठिन है। एक सज्जन ने बताया कि भारतवर्ष में इस समय नब्बे लाख के लगभग गुरुओं की फौज है जिनके पास रहने के लिए भव्य भवन हैं, फिरने के लिए हाथी, घोड़े और कारे हैं, और मौज करने के लिए तिजोरियाँ भरी पड़ी हैं ? क्या वस्तुतः वे गुरु हैं ?

ये गुरु कैसे ?

एक फिलोसफर जा रहे थे, गगनचुम्बी मठो को देख कर उसने सामने आते हुए एक सज्जन से पूछा—ये सुन्दर मठ किसके चमक रहे हैं ? उसने उत्तर देते हुए कहा उदासियों के। वह सोचने लगा कि जो संसार से उदासी है और उनके मठ ! यह कैसे सम्भव है ? मदोन्मत्त हाथी झूमते हुए दिखलाई दिये। उसने फिर प्रश्न किया, ये हाथी किसके हैं ? तो उस सज्जन ने कहा वैरागियो के हैं ? वह सोच नही पा रहा था कि जो वैरागी हो ! जिनके मन मे वैराग्य की ज्योति जल रही हो उनके पास हाथी कैसे हो सकते हैं। कुछ और आगे बढ़ा तो कुछ बच्चे खेलते हुए दिखलाई दिये, उसने पूछा ये बच्चे किसके खेल रहे हैं ? उत्तर मिला—ब्रह्मचारियो के ? ब्रह्मचारी और फिर बच्चे ? आगे बढ़ने पर कुछ बहिनें आती हुई

दृष्टिगोचर हुई ? पूछा किसकी हैं ? तो उत्तर मिला—सन्तों की। सन्त होकर जो पत्निया रखे वे सन्त ही कैसे हैं ? हाँ तो, यह है नामधारी गुरु कहलाने वालों का शब्द चित्र ! वस्तुतः वे गुरु नही हैं। जो इस तरह स्वयं भोग-विलास में निमग्न रहते हो और व्यसनो से व्यथित हो, वे गुरु कैसे बन सकते हैं ? ऐसे नामधारी गुरुओ ने ही सद्‌गुरु के महत्त्व को कम कर दिया है।

सद्‌गुरु

सद्‌गुरु के लिए अपेक्षित है कि वह पाँच इन्द्रियो को वश करने वाला हो, तथा नवविध ब्रह्मचर्य गुप्तियो को धारण करने वाला हो। क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त हो; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से युक्त हो; ज्ञान, दर्शन. चारित्र, तप और वीर्य से सम्पन्न हो; ईर्ष्या, भापा, एषणा, आदानभण्डमत और उच्चार प्रस्रवण खेलजल सस्थापनिका समिति तथा मन, वचन और काया का गोपन करने वाला हो। इस प्रकार जो इन सद्‌गुणो का धारक है वही वस्तुतः सद्‌गुरु है। जो इन सद्‌गुणो के परीक्षण-प्रस्तर पर खरा उतरता है उसे ही भारतीय महर्षियो ने सद्‌गुरु कहा है :—

पंचिदिय-संवरणो, तह नवविह बंभचेर गुत्तिधरो।
चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अट्ठारस गुणेहि संजुत्तो॥
पंच-महव्वय [जुतो, पंचविहायार-पालण समत्थो।
पंच समिओ तिगुत्तो, छत्तीस-गुणो गुरु मज्झ॥

वस्तुतः सद्‌गुरु का महत्त्व अपरम्पार है। दीपक को प्रकाशित करने के लिए जैसे तैल की आवश्यकता है, घड़ी को चलाने

के लिए चावी की जरूरत है, शरीर को हृष्ट-पुष्ट वनाने के लिए भोजन आवश्यक है वैसे ही जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। सद्गुरु ही जीवन के सच्चे कलाकार है।

साहित्य : एक चिराग ! एक ज्योति !

निरुपम सम्पत्ति

साहित्य मानव की निरुपम सम्पत्ति है । साहित्य ही अतीत को वर्तमान से और वर्तमान को भावी से मिलाता है । अतीत मे मानव ने जो चिन्तन-मनन किया वह वर्तमान मे मानव को विरासत के रूप में मिला है और वर्तमान मे जो चिन्तन करता है वह भावी पीढी को विरासत के रूप में प्राप्त होगा । जिस युग में लेखन की परम्परा नही थी उस युग में गुरु का मुंह और शिष्य के कान के रूप मे प्रस्तुत परम्परा अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ी । इस प्रकार साहित्य की धारा नानारूपों में प्रवाहित होकर मानव को सदा-सर्वदा उपकृत करती रही है ।

परीक्षण के प्रस्तर पर

आज का युग वैज्ञानिक युग है । प्रत्येक कार्य को उपयोगिता के परीक्षण-प्रस्तर पर कसा जाता है । जो उस पर खरा उतरता है उसे ही वह मान्य करता है । संसार एक विष-वृक्ष है, उसमे सर्वत्र अशान्ति, कलह के काटे हैं । सारा वृक्ष ही हलाहल का घर है पर उस वृक्ष पर दो मधुर फल लगे हुए हैं एक काव्यामृत का रसास्वादन और दूसरा है सज्जनो का सहवास

संसार विषवृक्षस्य, द्वे एव मधुरे फले।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सज्जनैः सह॥

हां तो साहित्य अमृत का फल है। वह ज्ञान राशि का सचित कोश है। जिसके अध्ययन, चिंतन और परिशीलन से मानव अपना आध्यात्मिक और बौद्धिक दोनो प्रकार का विकास कर सकता है। राजशेखर ने साहित्य को पचमी विद्या माना है। अन्य चार विद्याओं का सार इसमे सन्निहित है। मानव समाज का जो हित-चिन्तन है वह साहित्य है चाहे वह गद्य मे हो या पद्य मे हो, उसे हम यहां साहित्य ही कहेगे। इस सन्दर्भ के प्रकाश मे यह स्पष्ट है कि आज का मानव-मानस व्यथित है। चित्त चिन्तित है, उसे शान्ति की चाह है, हित की कामना है तो साहित्य का अध्ययन, मनन, और अनु-चिन्तन करना चाहिए।

साहित्य : नया जीवन

साहित्य ने कोटि कोटि मानवो मे प्रेरणा-प्रदीप जगाये हैं, हताश और निराश व्यक्तियो में उत्साह और साहस का सचार किया है। चिन्ताओ से मुक्त कर नया जीवन प्रदान किया है। महात्माजी ने लिखा है "कुछ पुस्तकें मेरे जीवन की मार्ग-दर्शिका वन गईं जिसमे एमर्सन की "अण्टू दिस लास्ट" सर्व प्रथम है।

साहित्य की अपूर्व शक्ति

साहित्य मे जो शक्ति है वह तोप तलवार वन्दूक और आज के अणुअस्त्र मे भी नहीं है। साहित्य मानव के हृदय को बदल देता है।

भारतीय इतिहास मे नादिरशाह एक कठोरता की मूर्त्ति के रूप मे चित्रित किया गया है। वह बड़ा ही क्रूर प्रकृति का था। उसे भी साहित्य-कला ने मुग्ध कर दिया था। कहा जाता है कि नादिरशाह जब दिल्ली मे कत्लेआम कर रहा था उस समय दिल्ली के बादशाह शाह आलम के हाथ पाँव फूल गये थे। नादिरशाह की क्रोधाग्नि से नर नारी जल-भुन कर खाक हो रहे थे। पर उस दावाग्नि को शान्त करने का सामर्थ्य किसी मे नही था। जो भी नादिरशाह के सामने जाता वह तलवार के घाट उतार दिया जाता था। दिल्ली मे रक्त की नदी बह रही थी, नादिरशाह के सेनापति भी प्रस्तुत काण्ड से दंग थे पर किसी मे सामर्थ्य नही था कि नादिरशाह के विरुद्ध एक शब्द भी कोई बोल सके।

दिल्ली के बादशाह का एक मत्री जो साहित्यिक था, जब उसने यह हत्याकाण्ड देखा तो उसका हृदय रो पड़ा। वह अपनी जान को हथेली पर रख कर नादिरशाह के पास पहुँचा और उसने कहा—आपके प्रेम रूपी तलवार ने किसी को भी जीवित नही छोड़ा है, अब तो आपके लिए एक ही उपाय है कि आप मुर्दों को फिर जीवित करदे और उन्हे पुनः मारना प्रारम्भ करदें।

कसे न मांद कि दीगर ब तेगे नाब कुशी।
मगर कि जिन्दगी कुनी खल्का रा बाज कुशी॥

कहते हैं कि यह शेर सुनते ही नादिरशाह के विचार बदल गये और उसने उसी समय हत्या-काण्ड बन्द करवा दिया।

एक तीर

और आमेर के महाराजा मानसिंह जो "सिला देवी" के वहाँ पर प्रतिदिन नर की बलि चढाते थे जिससे प्रजा परेशान थी, पर सम्राट को निवेदन करने का सामर्थ्य किसी मे नही था। एक साहित्यकार से रहा नही गया। सम्राट "मान" जब घूमने के लिए जा रहे थे तब उसने मार्ग मे रोक कर उनसे कहा सम्राट्, विश्व मे अनेक कसाई हैं पर नर वलि देकर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराने वाले आप मान कसाई एक ही हैं—

लकड़ कसाई, बकर कसाई, कलम कसाई अनेक।
नर बलि देय जय चाहे, मान कसाई एक॥

दोहा क्या था, मानो तीर था जो कलेजे को बीध गया, और दूसरे दिन ही यह आदेश जाहिर हो गया कि आज से नर बलि बन्द की जाती है।

कर्त्तव्य की ज्योति

और जयसिंह के विलासी जीवन को नया मोड देने वाला विहारी का वह साहित्यिक दोहा ही था, जिससे जयसिंह रनिवास की चहार दिवारो को लाघ कर शीघ्र ही राज-सभा में पहुँचे थे।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इह काल।
अली कली ही सौं बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इस एक ही दोहे ने उनमें कर्त्तव्य की ज्योति जागृत करदी थी। जो कार्य मत्री आदि नही कर सके थे वह कार्य इस दोहे ने कर दिया।

और पृथ्वीराज के उस साहित्यिक पत्र ने महाराणा प्रताप के अन्तर्मानस मे पुनः कर्तव्य-निष्ठा जागृत की थी। उन्होने अकबर को जो सन्धि-पत्र प्रेषित किया था, उसमें उन्होने अकबर को सन्धि हेतु लिखा था, किन्तु पृथ्वीराज का यह प्रेरणा-पत्र मिला—

पातल जो पातसाह, बोले मुखहुँता वयण।
मिहर पच्छम दिस मांह, उगे कासप राव उत॥
पटकूं मूंछा पाण, कै पटकूं निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण, इंण दो पहली बात इक॥

पत्र क्या था, मानों बीजली का करण्ट था। पत्र पढते ही सन्धि का विचार स्थगित कर देश को आजाद करने के लिए कटिबद्ध हो गये। उस पत्र ने महाराणा प्रताप को पथ-भ्रष्ट होते हुए बचा दिया था, और भूषण ने भी साहित्य के द्वारा ही शिवाजी मे वीरत्व का सचार किया था।

साहित्य और धर्म

भारतवर्ष मे साहित्य और धर्म का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। यहाँ साहित्य धर्म का अनुयायी रहा है। वही साहित्य जन-मन प्रिय हुआ जो धार्मिक भावना से ओत-प्रोत रहा। पाश्चात्य-समीक्षको ने साहित्य और धर्म को अलग-अलग माना, पर भारत के विचारको ने उसे अलग नही माना। जो वासना और विकारो को प्रोत्साहन देने वाला है उसे हम साहित्य नही कहते। आज साहित्य के नाम पर ऐसे अनेक ग्रन्थो का प्रणयन हो रहा है जो भारतीय संस्कृति और उसके

विचारो के प्रतिकूल है । ऐसा साहित्य मानवता के लिए अभिशाप है । और उससे हमेशा बचने की आवश्यकता है ।

साहित्य समाज का दर्पण है । साहित्य समाज के विचारों का सही प्रतिबिम्ब है । पाश्चात्य विचारक गेटे ने कहा है 'साहित्य का पतन राष्ट्र के पतन का द्योतक है । पतन की ओर वे परस्पर एक दूसरे का साथ देते है ।

The decline of literature indicates the decline of a nation; the two keep pace in their downward tendency

उच्चस्तरीय साहित्य वस्तुत: सास्कृतिक अनमोल निधि है

साहित्य और जैन समाज

आज जैन समाज का अन्य वस्तुओ के प्रति जितना प्रेम है उतना साहित्य से प्रेम नही है । यही कारण है कि अन्य वस्तुओ मे जितना व्यय करते हैं उसका शतांश भी साहित्य मे व्यय नही करते । जितना व्यसनो मे अपव्यय किया जाता है उतना भी साहित्य के लिए खर्च करना पसन्द नही है ।

साहित्य प्रेम

अब्राहम लिंकन मे साहित्य पढने का शोक गज़ब का था । किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी, वे चाहते हुए भी अर्थाभाव के कारण पुस्तके नही खरीद सकते थे । अत: मांग-मांग कर पुस्तकें पढते । एक वार किसी व्यक्ति के पास अच्छी पुस्तक देखी, उनका मन उसे पढ़ने के लिए छटपटाने लगा । उन्होने अत्यधिक अनुनय-विनय कर पुस्तक मांगी, पर

वह देने से पहले इन्कार हो गया, किन्तु जब उसने उनकी छटपटाहट देखी तो इस शर्त पर पुस्तक दी कि खराबन हो, इसका पूर्ण ध्यान रखना तथा शीघ्र लौटा देना। पुस्तक लेकर लिंकन घर आये, घर मे दीपक नही था, घर के सभी सदस्य सर्दी से बचने के लिए एक अंगीठी में अग्नि लगा कर तापा करते थे। लिंकन उसी अगीठी के प्रकाश मे पुस्तकें पढ़ा करते थे। वे उस रात पुस्तक लेकर पढने बैठ गये, घर के सारे सदस्य सो गये और वे सारी रात पुस्तक पढ़ते रहे। पुस्तक पूर्ण कर उसे जंगले मे रख कर वे सो गये। संयोग-वश वर्षा आ गई और जंगले मे रखी पुस्तक खराब हो गई।

बालक लिंकन ने ज्यो ही उठ कर देखा कि पुस्तक खराब हो गई है, वे रोने लगे, मन मे विचार आया कि किस तरह उन्हें लेजा कर दूगा। वे क्या कहेगे।

आँखो मे आंसू बहाते हुए वे पुस्तक के मालिक के पास पहुंचे पर पुस्तक-मालिक खराब पुस्तक को लेने के लिए प्रसन्न न हुआ और उसका मूल्य चुकाने के लिए उनके पास पैसे नही थे, अन्त मे पुस्तक मालिक ने यह निर्णय दिया कि तीन दिन तक खेत मे धान काट कर पुस्तक का मूल्य भरपाया किया जा सकता है। बालक लिंकन तैयार हो गया। वह घबराया नही। साहित्य प्रेम के कारण ही वह अपने जीवन के क्षेत्र मे निरन्तर आगे बढता रहा। और एक दिन अमेरिका का लोकप्रिय राष्ट्रपति बन गया।

नैपोलियन बोनापार्ट भी साहित्य-प्रेमी था। उसे बिना साहित्य का अध्ययन किये चैन नही पड़ता था।

फारस मे सन् ९३८ में एक वजीर था। उसके पास एक लाख और सत्तरह हजार पुस्तकें थी जिन्हें वह सदा अपने पास रखता था। यदि वह कभी युद्ध मे भी जाता तब भी वे पुस्तके उसके पास रहती। पुस्तको को इधर से उधर ले जाने के लिए चारसौ ऊँट थे, उन पर पुस्तकें लकड़ियो की तरह लादते। वे इतनी व्यवस्थित रखी जाती थी कि जिस पुस्तक की आवश्यकता होती उसी समय वह निकाली जा सकती थी।

बुद्धिमान व्यक्ति हमेशा साहित्य से प्रेम करते हैं। मिल्टन का कथन है कि 'किसी अच्छी पुस्तक मे उसके लेखक का, उस महान् व्यक्ति का रक्त बहता है।' भारत के प्रसिद्ध विद्वान् भर्तृहरि ने कहा है—साहित्य व संगीत कला से विहीन मनुष्य पशु के समान है।

जेब का बगीचा

साहित्य महापुरुषों के विचारो का अक्षय कोश है। ससार रूपी रोग को नष्ट करने के लिए अद्भुत औषध है। सत्य और सौन्दर्य से भरा हुआ मानो स्टीमर है। वह युवावस्था मे मार्ग-दर्शक है और वृद्धावस्था मे आनन्ददायक है। वह एक अद्भुत शिक्षक है। शिक्षक चाबुक मारता है, वह कठोर शब्दो मे फटकारता है और पैसे भी लेता है पर यह न चाबुक मारता है न कठोर शब्दो मे फटकारता है और न पैसे ही लेता है। किन्तु शिक्षक की तरह उपदेश देता है। यह युवावस्था मे भी वृद्ध जैसा अनुभवी बना देता है। एतदर्थ ही

आस्टीन फिलिप्स ने कहा था 'कपड़े भले ही पुराने पहनो पर पुस्तके नवीन-नवीन खरीदो ।'

लॉर्ड मेकॉले ने तो यहाँ तक कहा—'यदि मुझे कोई सम्राट बनने के लिए कहे और साथ ही यह शर्त रखे कि तुम पुस्तके नही पढ़ सकोगे तो मैं राज्य को तिलाञ्जलि दे दूंगा और गरीब रह कर भी पुस्तकें पढ़ूंगा ।' एक अरबी कहावत है कि पुस्तकें जेब में रखा हुआ एक बगीचा है 'जिन घरो मे सद्-साहित्य का अभाव है वह घर आत्मा-रहित शरीर के सदृश है। फर्नीचर आदि अन्य वस्तुओ से आप लोग घर को सजाते हैं पर वस्तुत: वे घर की शोभा नही हैं । मेरा कहना है कि आप सद्साहित्य से घर को सजाएँ । यदि आपका घर सद्साहित्य से सजा हुआ है और आप पढ़े-लिखे नही हैं तो भी आने वाले साहित्य को देख कर आपको विद्वान समझेंगे, घर में रखा हुआ साहित्य आपकी मूर्खता को ढक देगा। कितने ही हमारे वृद्ध महानुभाव कहते हैं कि 'पोथियो को कौन पढेगा' तो मैं उनसे कहता हू कि पोथियो को आप नही तो आपके पोते पढ़ेंगे । यदि घर में अच्छा साहित्य है तो जो भी पढ़ेगा उससे वह लाभान्वित ही होगा । शरीर के लिए जिस प्रकार भोजन की आवश्यकता है उसी प्रकार मानसिक भूख को शान्त करने के लिए श्रेष्ठ पुस्तको की आवश्यकता हैं । जिसका खाता वही समाप्त हो जाता है उसका लेन-देन भी समाप्त हो जाता है, वैसे ही जिस समाज का साहित्य समाप्त हो जाता है वह समाज भी समाप्त हो जाता है । 'कहा भी है 'मुर्दा है वह देश जहा साहित्य नही है ।'

साहित्य का प्रचार

आप विशिष्ट अवसरों पर अपने स्नेही-साथियों को अन्य वस्तुएँ उपहार में देते हैं। धार्मिक उत्सवों पर भी उपहार दिया जाता है। यदि उपहार देने मे कुछ विवेक दृष्टि रखी जाय, अन्य वस्तुओं के स्थान पर सद्साहित्य दिया जाय तो उससे अनेक लाभ हो सकते हैं। एक तो वह जिन्हे दिया जायेगा उन्हे जीवन-निर्माण की दिव्य दृष्टि देगा, दूसरा साहित्य का सुगमता से प्रचार-प्रसार होगा।

महावीर की पच्चीसौवीं जयन्ती

निकट भविष्य मे ही आर्यावर्त्त के महामानव भगवान श्री महावीर को पच्चीसौ वर्ष पूर्ण होने जा रहे हैं, उसे मनाने के लिए विविध दृष्टियो से चिन्तन मनन किया जा रहा है। उसमे एक चिन्तन यह भी है कि सम्पूर्ण महावीर-वाणी इस मंगलमय अवसर पर अद्यतन शैली से सम्पादित हो कर कलात्मक दृष्टि से प्रकाशित हो, तथा एक विराट् महावीर स्मृति ग्रन्थ निकले, और इसके अतिरिक्त महावीर जीवन-दर्शन और उपदेश का मौलिक साहित्य निकाला जाय। मैं समझता हूं यह कार्य जैन समाज के लिए कोई कठिन नही है, यदि वह इधर लक्ष्य दे तो।

एक चिराग

आज के युग मे वही समाज-धर्म अपना अत्यधिक उत्कर्ष कर सकता है जो साहित्य की दृष्टि से समृद्ध है। ईसाइयो ने प्रेम व साहित्य के बल पर इतना प्रचार और प्रसार किया है

क्या जैन समाज ऐसा नही कर सकता ? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर उसे बोल कर नही किन्तु कार्य करके देना है। स्मरण रखियेगा —साहित्य समाज की आख है, एक ज्योति है, एक चिराग है, जो अन्धकार मे भी आलोक प्रदान करता है।

कर्तव्य-निष्ठा

सुनहला प्रकाश

भारतवर्ष का गभीर चिन्तन मानव को सदा यह पुनीत प्रेरणा देता रहा है कि कर्तव्य-निष्ठ बनो। कर्तव्य जीवन का सुनहला प्रकाश है, जीवन का प्रवेश-पर्व है, जीवन संस्था का शिलान्यास है। जीवन का नवनीत है और है जीवन को अमर बनाने का श्रेष्ठ रसायन।

आज का मानव

आगम, त्रिपिटक, वेद और उपनिषद् जो भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि है उसमे यत्र-तत्र-सर्वत्र कर्तव्य-निष्ठा की स्वर-लहरी झंकृत हो रही है। गीता और रामायण तो कर्तव्य-निष्ठा के सजीव भाष्य हैं। अनेक लेखको ने कर्तव्य की महत्ता पर मौलिक ग्रन्थ निर्माण किये, कवियों ने कमनीय कविताएँ लिखी, वक्ताओ ने ओजस्वी अभिभाषण दिये और श्रोताओ ने झूम-झूम कर तालियो की गडगड़ाहट कर अपने हृदय के भाव अभिव्यक्त किये। पर प्रश्न यह है कि आज का मानव कितना कर्तव्य-निष्ठ है ?

द्रौपदी और युधिष्ठिर

भारतीय साहित्य का एक सुन्दर सन्दर्भ है—महारानी

द्रौपदी ने महाराजा युधिष्ठिर से कहा—'आप इतना धर्म-कर्म करते हैं पर जगलों की खाक छान रहे हैं, एक वन से दूसरे वन मे भटकते फिर रहे हैं; पर देखिए दम्भ की प्रतिमूर्ति दुर्योधन पाप की प्रवृत्तियो मे तल्लीन होने पर भी ससार के विराट वैभव का उपभोग कर रहा है, अतः स्पष्ट है कि जीवन में सुख सम्प्राप्त की कामना हो तो छल-छद्म को अपनाना चाहिए।'

धर्मराज युधिष्ठिर ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—'द्रौपदी ! ज्ञात होता है कि तुम्हे किसी ने बहका दिया है। मै कभी भी फल की अभिलाषा से धर्म नही करता। जो फलेच्छा से धर्म-कर्म करता है वह भूल-भरा है। कर्तव्य-निष्ठा से उत्प्रेरित होकर ही मै दान आदि धर्म कार्य करता हू।'

नाहं धर्मफलाकांक्षी, राजपुत्रि चरामि भो।
ददामि देयमित्येव, यजे यष्टव्यमित्युत॥

कर्तव्य और साधना

जैन सस्कृति के तलस्पर्शीविज्ञो ने भी फल की कामना से किये जाने वाले तप-जप, व्रत, नियम को जीवन का शल्य कहा हैं। और कर्तव्य दृष्टि से ही साधना करने के लिए उत्प्रेरित किया है। कर्तव्य दृष्टि से की जाने वाली साधना मे ही स्वर्ण की तरह आभा प्रस्फुटित होती है।

इन्सान की परख

यह एक परखा हुआ तथ्य है कि तार के द्वारा वस्त्र की परख होती है। धार के द्वारा शस्त्र की परख होती है। नाम

से नही अपितु कर्तव्य के द्वारा इन्सान की परख होती है।

पन्ना और आशाशाह

राजस्थान के इतिहास का सुनहला प्रसग है—पुत्र-वत्सला पन्ना धाय ने कर्तव्य की बलिवेदी पर अपने लाडले लाल को चढ़ा दिया। ज्योंही दुष्ट वनवीर उदयसिह को मारने के लिए नगी तलवार लेकर अन्दर घुसता है और पूछता है--'उदयसिह कहां है ?' पन्ना को पहले से ही वनवीर के इस षड़यन्त्र का पता लग गया था, लेकिन वह वीराङ्गना घबराई नही। दुष्ट वनवीर को सिह-गर्जना करते हुए फटकारा। आखिर उस कठोर कर्तव्य की घड़ी आ पहुंची। एक ओर उदयसिह की रक्षा का प्रश्न था तो दूसरी ओर अपने इकलौते पुत्र की रक्षा का। दोनों में से पन्ना ने स्वामी-भक्ति के कर्तव्य पर दृढ रह कर अपना पुत्र जहां राजसी वेप मे सोया हुआ था, उसकी ओर सकेत कर दिया। दुष्ट वनवीर ने एक ही प्रहार से फूल से कोमल पन्ना के पुत्र को, उदयसिह समझ कर मौत के घाट उतार दिया। पन्ना यह देख कर भी कर्तव्य की बलवती प्रेरणा के कारण रोई नही, सिसकी नही। उसने यह कठोर कर्तव्य पूर्ण किया। इसके वाद उसके सामने उदयसिह बड़ा न हो जाय तब तक उसकी रक्षा का प्रश्न था। उसने कुछ सोच कर एक विश्वस्त सेवक के साथ पत्तो की टोकरी में उदयसिह को सुला कर, ऊपर से पत्ते ढक कर किसी तरह नहर से वाहर ले चलने को कहा। स्वय भी बाहर जाने को तैयार हो गयी। पन्ना उदयसिह को कही न कही विश्वस्त

पुरुष के यहां रख कर उसका लालन-पालन करना चाहती थी। परन्तु दुष्ट वनवीर का आतङ्क चारों ओर फैल गया था। वह जहा भी शरण के लिए गई, सभी ने अपने प्राणमोह-वश पन्ना धाय को टका सा जवाब दे दिया। वह जगलो-जगलो घूमी, पहाड़ो मे घूमी, काँटे-ककर और हिंस्र पशुओ की भी उसने परवाह न की। अन्ततोगत्वा वह अरावली के दुर्गम पहाड़ो और ईडर के कूट मार्गों को लाँघ कर कुभलमेरु दुर्ग पहुँची, जहा आशाशाह देपुरा नामक एक जैन किलेदार था। पन्ना ने उसके यहा जाकर, अपनी सारी आपबीती बताई और कहा कि 'अपने राजा के प्राण बचाइये, इसे आपकी शरण मे, और आपकी गोद मे मैं रखने आई हूं।' किन्तु आशाशाह भयभीत और अप्रसन्न होकर इस बात से आना-कानी करने लगा। आशाशाह की वयोवृद्धा माता भी वही पर वैठी थी। पुत्र की कायरता और कर्तव्यच्युतता देख कर फटकारते हुए कहा 'आशा! धिक्कार है तेरे जीवन को! क्या ही अच्छा होता तू मेरे पेट से जन्म ही न लेता! क्या तू एक शरणागत को, एक अतिथि को आश्रय नही दे सकता? उसे इन्कार करते हुए तुझे शर्म नही आती? निरपराधियों को अत्याचारी के चगुल से बचाने का सामर्थ्य रखते हुए भी प्राण-मोह में पड कर कर्तव्य से व धर्म से क्यो डिग रहा है? जो मनुष्य किसी के विपत्ति मे काम नही आता उसका संसार मे जीना ही बेकार है। इच्छा तो ऐसी होती है, जिन हाथों से तुझे पाला पोसा है, उन्ही हाथों से तुझे समाप्त कर दूं।' इतना कहते ही आशाशाह पानी-पानी हो गया। उसको

अन्तरात्मा जागृत हो उठी। वह वीर माता के चरणो मे लोट पड़ा और अश्रुओ से मातृ-चरणों का अभिषेक करने लगा। बोला—'क्या माँ, मैं तुम्हारा पुत्र होकर भी यह भीरुता कर सकता था? क्या प्राणों के तुच्छ मोह में पड़ कर कर्तव्य की अवहेलना कर सकता था? मुझे यह क्या भ्रम हो गया था, माता!' वीर माता का हृदय वत्सलता से उमड़ने लगा और वह सिर पर हाथ फेरने लगी। वीर आशाशाह ने उदयसिंह को अपना भतीजा कह कर प्रसिद्ध किया और युवा होने पर अन्य सामन्तो की सहायता से चित्तौड़ का सिंहासन दिला दिया। पन्ना का मनोरथ पूर्ण हुआ। पन्ना धाय का और आशाशाह की वीर माता का यह कार्य कितना सराहनीय है? मेवाड़ का इतिहास कर्त्तव्य-निष्ठा की पुनीत गाथाओं से भरा पड़ा है। भामाशाह की कर्त्तव्यनिष्ठा क्या कम थी?

कर्त्तव्य का क्षेत्र

कर्त्तव्य का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे—सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षणिक और आध्यात्मिक आदि हर मैदान मे कर्त्तव्य की प्रतिपल पुकार होती है। जो नरवीर कर्त्तव्य को पूर्णतः निभाते है, वे ही इस संसार मे अपना जीवन महान् बनाते है और जगत् में भी शान्ति और सुव्यवस्था फैला जाते हैं। उनके जीवन की सफलता कर्त्तव्यनिष्ठा में ही सन्निहित हे। एक कवि ने कहा है—

'सफल उन्हीं का जीवन है, जो निज कर्त्तव्य निभाते हैं।
ऐसे तो पशु सम जीकर के लाखों नर मर जाते हैं॥'

कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति चाहे कही भी हो, वे चाहे एकान्त मे हो, चाहे विराट जन समूह मे हो, सर्वत्र दृढ़तापूर्वक अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे। कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति कष्ट के काँटो से घबरा कर अपनी राह नही छोडता, अपनी मुस्कराहट नही छोड़ता। वह कर्त्तव्य को किसी भी लोभ, स्वार्थ या प्रलोभन को बेचता नही है। वह कर्त्तव्य की सौदेबाजी नही करता। उसे पुरस्कार की वाञ्छा नही होती, उसे इनाम की परवाह नही होती। कर्त्तव्य मे पार उतर जाना, कर्त्तव्य को पूर्ण कर देना ही उसके लिए इनाम है, पुरस्कार है, उसी मे उसे आनन्द है। पन्ना धाय को किस पुरस्कार की इच्छा थी? राजा हरिश्चन्द्र को किस सम्पत्ति की अभिलाषा थी? उन्हे एक मात्र कर्त्तव्य-पालन करने में ही आनन्द की अनुभूति होती थी। एक कर्त्तव्यपरायण वैद्य या डॉक्टर को उसकी दवा से जब रोगी स्वस्थ होता है तो मन मे आह्लाद उत्पन्न होता है। एक आचार्य को अपने शिष्य की सफलता देख कर मन ही मन प्रसन्नता उमड़ती है। पानी में डूबते हुए को बचा लेने पर तैराक को अपने कर्त्तव्य पालन से प्रफुल्लता पैदा होती है। यह आनन्द उसी को अन्दर से होता है, जो कर्त्तव्य की परिसमाप्ति विना स्वार्थ के करना जानता हो।

कर्त्तव्य और पुरस्कार

एक बार इटली की एक नदी मे जोर की बाढ आ गई। नदी के इस पार दर्शको की भीड़ जमा थी। नदी का पुल टूट

गया था और सारा भूभाग जलमग्न हो गया था। केवल बीच का एक टीला बच गया था, जो जल मे डूबा नही था। घर वाले सब वेघरवार होकर सहायता के लिए पुकार रहे थे। भीड़ मे से एक व्यक्ति ने कहा—'यदि कोई उस घर के सब मनुष्यो को बचा दे तो मैं सौ सुवर्ण मुद्राए पुरस्कार मे दूंगा।' यह सुन कर एक युवा मल्लाह अपनी नाव उस घाट की ओर ले गया और सब को उस पर चढ़ा कर ले आया। उस पुरस्कारदाता ने सौ स्वर्ण मुद्राए देते हुए कहा—'तुमने वहुत साहस का काम किया है, लो यह अपना पुरस्कार!' पर उस कर्त्तव्यनिष्ठ युवा मल्लाह ने अपने हाथ खीच लिए और कहा - 'मैं अपना पुरस्कार पा चुका हूँ। मुझे कर्त्तव्य-पालन में जो आनन्द मिला है, वह क्या कम पुरस्कार है।' आप चाहे तो अपना धन बाढ़-पीड़ितो की सेवा मे खर्च कर दीजिए।'

यह है पुरस्कार के प्रलोभन को ठुकरा कर कर्त्तव्य-पालन की जीती-जागती कहानी!

अधिकार और कर्त्तव्य

कर्त्तव्य का क्षेत्र क्रमश. विस्तृत से विस्तृततर और विस्तृततम होता जाता है। अपने कुटुम्ब से शुरू होकर वह जाति, गाँव, नगर, समाज, राष्ट्र, अन्य राष्ट्र, अन्य प्राणी, इस प्रकार सारे विश्व तक कर्त्तव्य की सीमा विस्तृत है। मनुष्य को अपने सामने आए हुए कर्तव्य को सर्व प्रथम निभाना चाहिए। प्राचीन काल मे समाज चार वर्णों मे वंटा हुआ था और सवके अपने-अपने कर्त्तव्यो का वर्गीकरण किया हुआ था। केवल

व्यवसाय की दृष्टि से नही, किन्तु कर्त्तव्य की दृष्टि से यह वर्गीकरण था। किन्तु आज वह कर्त्तव्य पालन की भावना प्राय: लुप्त हो गई है। गाँव और नगर वाले अपने नागरिकता के कर्त्तव्य को पहिचान कर, अपने कर्त्तव्य की सीमा रेखा का परिज्ञान कर ले, पालन कर ले तो नगर की बहुत-सी गड़बड़िया शीघ्र ही मिट सकती हैं, गाँव की बहुत-सी उलझनें एक दिन मे समाप्त हो सकती हैं। पर आज अधिकारो का युग है। प्रत्येक व्यक्ति अधिकार पाने की धुन मे है। मेयर, नगर पिता, अध्यक्ष, सरपच, पच आदि पदो और अधिकारों की आज नगरो और गाँवो मे होड़ लगी हुई है। कोई विरला ही अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहता है।

स्मरण रखिए, अधिकार मागने की चीज नही है। मांगने से अधिकार मिलता भी नही है। आप कर्त्तव्य पालन करेंगे तो अधिकार आपके पीछे-पीछे फिरेगा। और अगर आप कर्त्तव्य पालन किये बिना ही अधिकार पा लेगे या पाना चाहेगे तो दुनिया की ओर से धिक्कार मिलेगा। सस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि ने कहा है—

'अधिकार पदं प्राप्य कार्यं यो न करोति तत्
अकारो लुप्ततां याति, ककारो द्वित्वतां व्रजेत्।'

जो मनुष्य अधिकार पद पाकर कर्त्तव्य पालन नही करता उसके अधिकार का अकार उड़ जाता है और ककार दुगुना हो जाता है, यानी धिक्कार उसे मिल जाता है! भारतीय सस्कृति के प्रसिद्ध ग्रन्थ गीता मे कहा है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन'

पाना नहीं, करना

तेरा अधिकार कर्त्तव्य करना है, फल की ओर देखना नही। आज जहां देखें, वही अधिकारो की घुडदौड़ मची हुई है। अधिकार प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति जनता के सामने पहले तो लम्बे-चौड़े भाषण झाड़ेंगे, जनता के सामने बड़े-बड़े वादे करेंगे कि हम तुम्हारे लिए यों कर देगे, तुम हमें वोट दे दो, किन्तु ज्यो ही बहुमत से अधिकार या पद मिला नही कि जनता को मुंह भी नही दिखायेंगे, फिर तो वे ऐसे भाग निकलेंगे कि जैसे सांप कांचली छोड़ कर भाग जाता है। अधिकारो के नशे में वे कर्त्तव्य की बात को सर्वथा भूल जायेंगे, कर्त्तव्य का गला घोटते देर न लगायेंगे। नीतिशास्त्र के विद्वान शुक्राचार्य के शब्दो मे—'अधिकारमद पीत्वा को न मुह्यात् पुनश्चिरम्' सचमुच, अधिकार पाने की चीज नही है, कर्त्तव्य ही करने और पाने की चीज है। आज की शिक्षा-दीक्षा और सस्कार ही इस प्रकार के हो रहे हैं कि सब लोग प्राय. कर्त्तव्य पूर्ण करने से कतराते हैं। हरिश्चन्द्र और पन्ना धाय जैसे कर्त्तव्य-वीरों का नाम केवल इतिहास के पृष्ठो पर अङ्कित है, जनता के जीवन मे, हृदय मे अंकित नही है, वह धु धला पड़ता जा रहा है। ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म और सघ धर्म आदि धर्म कर्त्तव्यनिष्ठा के ही सूचक हैं।

आज के अधिकांश जैन, बौद्ध, वैदिक आदि धर्मो मे कर्त्तव्य की झकार कम होने लगी है। धर्मनायक केवल अपने

धर्मानुयायियो की संख्या वृद्धि के लोभ में पड़ कर सस्ता नुस्खा उन्हें बताने लगे हैं, लोभ और भय से उन्हे प्रेरित कर के धर्म की हवा उनमे भरते हैं। वास्तव मे यह लोभ और भय पर आधारित धर्म की हवा अधिक दिनों तक टिकती नही। शीघ्र ही फुटबाल की तरह पचर होकर निकल जाती है। जहाँ धर्म कर्त्तव्याधारित हो, वहीं स्थायी रूप से धर्म का पालन, आचरण और निवास हो सकता है।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य

प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रयोजन से कोई न कोई कार्य करता है, पर वे सभी कार्य कर्त्तव्य की कोटि मे इसलिए नही आते कि उनके पीछे या तो स्वार्थ की प्रेरणा रहती है, या भय की प्रेरणा रहती है। विवेकपूर्ण कर्त्तव्य की प्रेरणा बहुत कम कार्यो मे रहती है और ऐसी प्रेरणा जिन कार्यों के पीछे होती है, वे कार्य कर्त्तव्य की कोटि मे गिने जाते हैं। कर्त्तव्य पालक की भी ऐसे कार्यों से स्वयमेव ख्याति होती है। न चाहने पर भी अधिकार हाथ जोड़े खड़ा रहता है। इसीलिए भारतीय मुनि कहते हैं—

'कर्त्तव्यमेव कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि
अकर्त्तव्यं न कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतै रपि।'

प्रत्येक मनुष्य को प्राण कण्ठो तक आ जाने पर भी कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य करना चाहिए, अकर्त्तव्य नही, अर्थ प्रेरित, भय प्रेरित, या स्वार्थ प्रेरित कार्य नही।

अन्तर्निरीक्षण

प्रत्येक साधक के प्रतिदिन के अन्तर्निरीक्षण का विषय ही

यह होना चाहिए कि 'आज के दिन मैंने क्या कर्त्तव्य किया है, क्या कर्त्तव्य करना शेष है और कौन-सा ऐसा कर्त्तव्य है, जिसे शक्य होने पर भी मैं नही कर पा रहा हूँ।' साधक के सामने शास्त्र मे अन्तर्निरीक्षण के लिए ये ही तीन प्रश्न रखे हैं

'किं मे कडं, किं च मे किच्च सेसं ?
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ?'

हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था कि हर व्यक्ति को, चाहे वह कही भी बैठा हो, किसी भी क्षेत्र मे काम करता हो, अपना कर्त्तव्य उसे अवश्य पालन करना ही चाहिए। जो कर्त्तव्य पालन से विमुख होकर जीता है, उसे जीने का भी अधिकार नही है। व्यापारी का कर्त्तव्य यही है कि वह ग्राहक के प्रति ईमानदारी को न खोए। शोषण के प्रवाह मे बह कर कर्त्तव्य की जड़े न काटे। तृष्णा की वैतरणी मे बह कर वह मिलावट, ठगी, धोखेबाजी या देने-लेने मे न्यूनाधिक माप-तोल की बेईमानी न करे। कर्त्तव्य ही उसे व उसके परिवार को जीवित और सुरक्षित रखने वाला है, अकर्त्तव्य और अधर्म नही।

यदि कोई वकील है तो उसके कुछ कर्त्तव्य हैं। वह असत्य-पक्ष की पुष्टि न कर दे, कानून के दावपेचो मे असली न्याय का खून न कर दे, यह उत्तरदायित्व वकील पर है। यदि कोई डॉक्टर है तो रोगी की करुण पुकार सुनते ही उसे सान्त्वना देना और उसका इलाज करना उसका कर्त्तव्य है। फीस के चक्कर मे पड़कर अगर वह रोग को बढ़ाता है, चिरकालीन बनाता जाता है, या पैसे के लोभ मे आ कर दवा मे अधिक

पानी मिला कर पूरे पैसे वसूल करता है तो वह कर्त्तव्य से च्युत होता है। यही क्यो डॉक्टर स्वयं भूखा है, थकामादा है, फिर भी अगर कोई असाध्य रोगी उसके पास आशाएँ लेकर आता है या उसे दिखाने के लिए डॉक्टर को कोई ले जाना चाहता है तो सब कुछ छोड कर पहले रोगी को देखना उसका कर्त्तव्य हो जाता है।

डॉक्टर और रोगी

कुछ वर्षो पहले की वात है। एक शहर मे एक डॉक्टर की प्राइवेट प्रैक्टिस खूब अच्छी चलती थी। डॉक्टर के पास सैकड़ो रोगी प्रति दिन आते थे, वह सब को ध्यान से देखता और उचित इलाज करता। उसके हाथ में यश भी था। एक दिन डॉक्टर के पास दिन भर एक के बाद एक रोगी आते ही रहे। डॉक्टर को उस दिन खाना खाने की भी फुर्सत न रही। शाम को थकामांदा वह अपनी पत्नी के पास एक कुर्सी पर बैठा चाय पी रहा था कि अचानक ही एक व्यक्ति डॉक्टर को लेने आया कि उसके इकलौते पुत्र के ऊपर से गिर जाने के कारण गहरी चोट लगी है। डॉक्टर ने उसे जरा बैठने को कहा और यह कहा कि 'मैं जरा चाय पी लू और थोडा आराम करने के पश्चात् चलूगा !" यह सुनना था कि डॉक्टर की विवेकशीला पत्नी ने तुरत कहा— 'आप को अब चाय पीने का अधिकार कहा है ? आपका पहला कर्त्तव्य है रोगी को देखना। अगर आपके लड़के के ऐसी गहरी चोट लगी होती तो क्या आप चाय पीने के लिए रुकते ?' पत्नी की इस कर्त्तव्य-

बोधक जोशीली प्रेरणा से डॉक्टर उसी वक्त चाय छोड़ कर उस बच्चे को देखने के लिए उसके पिता के साथ गया और अपना कर्त्तव्य अदा किया।

श्रेष्ठ कौन

जहां सुख-सुविधाओं का, प्राणों का या अपने माने जाने वालों का मोह आया नही कि कर्त्तव्य की ज्वाला बुझी नही। कर्त्तव्य की ज्वाला अन्तर्मानस में सतत प्रज्वलित रहे तो मनुष्य मानव से देव कोटि तक पहुच सकता है। चीन देश के महान दार्शनिक संत कन्फ्यूशियस ने कहा है—'वही राष्ट्र श्रेष्ठ है जिसमे राजा, प्रजा, पिता, पुत्र, माता, पुत्री, गुरु और शिष्य अपना-अपना कर्त्तव्य एक साथ पूरा करते हैं।' वस्तुतः बात बहुत ही ऊंची कही गई है। और अगर विश्व के सभी मनुष्य कर्त्तव्य पालन के एक ही व्रत को ले ले और उसे उत्साह के साथ निभाएँ, पालें तो विश्व शान्ति का साम्राज्य कायम होते देर न लगे।

प्रारंभ कहां से

मैं बहुत दूर की बात कह गया हू। पर आप इससे घबराइए नही। कर्त्तव्य की साधना आपको करनी ही है और प्रथम अपने कुटुम्ब से शुरू करनी है। इसका मतलब यह नही कि गाव, नगर, समाज या राष्ट्र के प्रति आपके कोई कर्त्तव्य नही हैं ? वे भी हैं और उनका भी पालन आपको समय-समय पर करना है। विश्व के सभी प्राणियो के प्रति जब आपमे कर्त्तव्य पालन की भावना उमड़ेगी, विश्व के सभी प्राणियों

के साथ किये जाने वाले व्यवहार को आप अपने आत्मा के दर्पण मे निरीक्षण करने लगेंगे तो आपके जीवन का काया-पलट होते देर नही लगेगी। आपकी कर्त्तव्यनिष्ठा ही आपको अनेक सकटो से पार कर देगी। आपको सकट भी फिर उत्थान में सहायक और साथी जैसे प्रतीत होने लगेंगे। आपको विपत्तियां भी जीवन-सगिनी मालूम देगी। आपका दृष्टिकोण ही बदल जायगा। आप कर्त्तव्य की तपतपाती सड़क पर चलते हुए भी परम आनन्द का अनुभव करेंगे। सुख-सुविधाओ का प्रलोभन, प्राणो का मोह, और गरीबी का भय, आपको अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित नही कर सकेंगे। आपकी कर्त्तव्य यात्रा मे किसी भी भयावनी या लुभावनी शक्ति का, विघ्नवाधा डालने का साहस नही होगा। आपकी इस सतत कर्त्तव्य-यात्रा मे आपकी विजय निश्चित होगी, सफलता सुन्दरी आपको अवश्य ही वरण करेगी, और जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य निखर उठेगा। फिर तो 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत. ससिद्धिलभतेनर.'—अपने-अपने कर्त्तव्यकर्म मे अभिरत मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता ही है—का वाक्य आपके जीवन का प्रेरक मत्र होगा; इस प्रकार कर्त्तव्ययज्ञ में आप अपनी आहुतियां देते रहेंगे तो एक दिन आपका जीवन ही सहज कर्त्तव्यमय बन जायगा। ऋषि के शब्दो मे 'कृत मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहित.' यदि मेरा कर्त्तव्य मेरे दाहिने हाथ में है तो जय और सफलता अवश्य मेरे बाये हाथ में होगी।'

समय का मूल्य

समय और संसार

सारे संसार का ध्यान आज समय की ओर तेजी से खिचता चला जा रहा है। समय उसकी गति का, प्रगति का और चाल-ढाल का केन्द्र-विन्दु बन रहा है। समय उसकी आंखों का तारा बन गया है। समय को छोड कर कोई भी समझदार व्यक्ति आज के युग मे गति नही कर सकता। समय जीवन की सभी अमूल्य घड़ियो का कारण बना हुआ है। समय की उपेक्षा मानव-जीवन के विकास की उपेक्षा है। समय का तिरस्कार मानव-जीवन की प्रगति का तिरस्कार है। समय आज समस्त क्रियाकलापो, प्रवृत्तियो और कार्यों का जनक बना हुआ है।

भारत के महामानव परम मनीषी तीर्थङ्कर भगवान् श्री महावीर ने कहा है—

'समयं गोयम ! माप्पमायए'

'हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत करो।'

समय का महत्त्व

जो समय के महत्त्व को नही जान सकता वह जीवन मे महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन नही कर सकता। समय ही वह

वस्तु है, जिसने मानव-जीवन को दरिद्र से धनवान, पापी से पुण्यात्मा, राजा को रक, आलसी को उद्यमी, अकर्मण्य को कर्मठ और कर्मवीरो को अकर्मण्य बनाया है। जिसने समय के खेल को नही पहिचाना, उसका जीवन अमूल्य अवसरो से वञ्चित रहा, उसकी स्थिति दुरवस्था की भयकर गुफा मे ही पड़ी रही, उसकी ज़िन्दगी मृतवत् बनी रही। यदि कोई मनुष्य धन कमाना चाहे तो उसे उद्योग से वह प्राप्त हो सकता है, खोया हुआ स्वास्थ्य पुनः औषध से प्राप्त किया जा सकता है, विस्मृत विद्या अभ्यास से अर्जित की जा सकती है; लेकिन खोया हुआ समय ? वह पुनः प्राप्त नही किया जा सकता। एक शायर ने कहा है—

'सदा दौर दौरा रहता नहीं,
गया वक्त फिर हाथ आता नहीं।'

समय को एक बार भी आपने हाथ से निकल जाने दिया तो उसका पुन. प्राप्त होना असम्भव है।

समय का चित्र

एक व्यक्ति ने एक प्रसिद्ध चित्रशाला मे प्रवेश किया। वहाँ उसे बहुत से चित्र दिखलाए गए। उसने देखा कि एक चित्र ऐसा है, जिसमे एक व्यक्ति का चेहरा काले वालो से ढका हुआ है और उसके पैरो मे पख लगे हुए हैं। दर्शक ने आश्चर्यमुद्रा मे पूछा—'यह किस की तसवीर है ?' चित्रकार ने कहा—'यह अवसर की, समय के उस अमूल्य क्षण की तसवीर है !' उसने पुन. प्रश्न किया—'इसका मुंह क्यो छिपा हुआ

है ?' चित्रकार ने कहा—'क्योकि यह जब मनुष्यों के सामने आता है, तो वे इसे नही पहिचान पाते !' उसने दूसरी बात पूछी—'इसके पैरो मे पख क्यो लगे हैं ?' चित्रकार ने मुस्कराते हुए कहा—'यही तो खूबी है ? क्योकि यह जल्दी चला जाता है, और जब एक बार चला जाता है तो इसको फिर कोई दुबारा नही पा सकता।'

सचमुच, समय का यह चित्र प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रेरणा-दायक है। अतः समय को हाथ से न जाने देने के बारे मे सभी विचारको ने बल दिया है।

समय की मूर्ति

किसी नगर के एक मूर्तिकार ने एक अनोखी मूर्ति बनाई और उसे दर्शकों को दिखाने हेतु उसने एक सार्वजनिक स्थान पर रख छोड़ी। इस अद्भुत मूर्ति को देखने के लिए लोगो की भीड़ जमा हो गई। परन्तु यह क्या ? मूर्ति के चहरे के सामने तो बाल हैं, लेकिन पीछे से गुद्दी का भाग बिलकुल गजा है ! इसका रहस्य जब मूर्तिकार से पूछा गया तो उसने कहा—'जनाब, यह अवसर की मूर्ति है, जीवन के अमूल्य क्षरण की मूर्ति है। यदि तुम आते ही इसके सामने के बालो को सहसा पकड़लो तो पकड़े रह सकते हो, किन्तु यदि तुम आलस्य मे रहो और उसे एक बार भी भग जाने दो तो फिर तुम तो क्या तुम्हारे देवता भी इसे नही पकड़ सकेंगे। इसीलिए पीछे से पकड़ने के लिए इसकी गुद्दी में बाल नही हैं !'

वास्तव मे, समय की यह मूर्ति सारे संसार को एक चुनौती देने वाली है। यदि हठ करके ससार का कोई भी व्यक्ति समय की अवहेलना कर बैठे तो समय मे एक ऐसी ताकत है कि वह भागते देर नही लगाता। इसीलिए एक अग्रेज विचारक ने समय के लिए एक उक्ति कही है :—

'Time is money'

समय धन है

'समय धन है।' धन के निरर्थक चले जाने पर आप कितना अफसोस करते हैं ? क्या उतना ही अफसोस आपको समय के व्यर्थ चले जाने पर होता है ? जो व्यक्ति समय-धन का सदुपयोग करते हैं, वे एक दिन ससार के पूजनीय वन जाते हैं, और उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

बरीट और समय

युरोप मे बरीट नामक एक व्यक्ति लुहार का धधा करता था। उसे उसमे से जो समय मिलता, उसका उपयोग वह विविध भाषाओ के सीखने मे करता था। उसने समय का सदुपयोग करके लगभग अट्ठारह भाषाएँ सीखी। वह कहता था 'मैंने जो कुछ भी सीखा है, वह वुद्धि-वल से नही; किन्तु समय के सदुपयोग से ही सीखा है।'

पोप अेड्रियम और समय

पोप अेड्रियम छठा वड़ा गरीब था, वड़ी मेहनत से वह अपना गुजारा चलाता था। लेकिन वह एक क्षण भी व्यर्थ

नही गँवाता था। वह अवकाश के समय रात को म्युनिसिपैलिटी के दीपको से पुस्तके पढता और थोड़े ही समय मे वह संसार का अद्वितीय विद्वान् बन गया।

वैज्ञानिको के एक से एक बढ़ कर आश्चर्यजनक आविष्कार समय के सदुपयोग का ही फल है। संसार के बड़े से बड़े दार्शनिक, विचारक, विद्वान, नेता, धर्मनायक, या सतशिरोमणि समय के सदुपयोग से ही इतने उच्च पद पर पहुंचे हैं। समय का सदुपयोग मानव को महामानव बना सकता है, इन्सान को हैवान और शैतान को ऊपर उठा कर मानव देव और भगवान तक की कोटि में ले जा सकता है। जो समय चूक जाता है, वह पछताता है, पर फिर पछताने से क्या हाथ आता है?

'समय चूके पुनि का पछिताने'

विजय और हार

नेपोलियन की विजय का मूल कारण समय ही था। पाच मिनट के मूल्य को नही पहिचानने वाले आस्ट्रेलिया निवासी नेपोलियन बोनापार्ट के सामने हार गये। वाटरलू के युद्ध मे नेपोलियन की हार का मुख्य कारण केवल पांच मिनट ही थे। उसके साथी 'पुसी' के पाच मिनट विलम्ब से आगमन ने नेपोलियन को वन्दी बना दिया। सचमुच, समय को सावधानीपूर्वक बिताना चाहिए। एक अग्रेज विद्वान जेम्सन ने कहा—

'समय का हर क्षण स्वर्ण के कणों की तरह कीमती होता है'

समर्थ रामदास ने समय का महत्त्व बताते हुए कहा—

'एक सदैव पणाचें लक्षण, रिकामा जाऊं ने दी एक क्षण।'

एक क्षण भी बेकार न जाने देना और उसका सदुपयोग करना सौभाग्य का लक्षण है।

मूर्ख और समय

परन्तु आज भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि यहाँ के लोग समय को सस्ता समझ कर, समय की खूब अवहेलना कर रहे हैं। मिनट ही नही, घटो, दिनो, सप्ताहो, महीनो और वर्षों का समय निरर्थक कामो मे व्यय कर देते हैं। उन्हें समय के चले जाने का कोई पश्चात्ताप नही, समय के दुरुपयोग की कोई चिन्ता नही। व्यर्थ की गप्पों मे, लडाई-झगड़ो मे, विविध व्यसनो मे, मौज-शौक मे समय को बर्बाद कर देने मे वे नही चूकते। नीतिकार ऐसे व्यक्तियो को मूर्ख की कोटि मे गिनते हैं।

'काव्यशास्त्र विनोदेन, कालो गच्छति धीमतां।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा॥'

बुद्धिमानो का समय काव्यो, शास्त्रो, जीवन की गूढ गुत्थियो को सुलझाने की चर्चाओ मे बीतता है जब कि मूर्खो का समय व्यसनो मे, निद्रा मे, या लड़ाई-झगडे मे बर्बाद होता है।

ऐसे लोग, जो समय की कीमत नही जानते, अपने समय को यो ही बिता देते हैं, समय उनकी प्रगति को काट देता है।

भारतवर्ष और समय

एक प्रोफेसर ने एक सज्जन से पूछा—"कहो, क्या हो रहा है ?" वह बोला—"कुछ नही, साहब, वक्त काट रहे हैं।" प्रोफेसर साहब ने गभीर मुद्रा मे कहा—"अरे, तुम क्या वक्त को काटोगे, वक्त ही तुम्हें काट रहा है ! और ऐसा काट रहा है कि कुछ ही दिनो बाद तुम्ही देखोगे कि किसी मतलब के नही रहे।" प्रमाद रूपी चोर मनुष्य के समय का अपहरण करने मे लगा हुआ है, उससे सावधान नही रहे तो हार है। एक समय की हार, अनन्त समय की हार है, और एक समय की जीत अनन्त समय की जीत है। किन्तु भारतीय लोगों में समय को कौड़ी के भाव मे बर्बाद किया जाता है।

नया सबक

इंग्लैण्ड में किसी भारतीय सज्जन ने किसी से मार्ग पूछा। उसने बता दिया और उक्त भारतीय का नाम-पता पूछ कर नोट कर लिया। दूसरे ही दिन उसके पास उक्त पथ-प्रदर्शक ने अपने रास्ता बताने के समय का 'बिल' भेजा, जिसमे लिखा था—"रास्ता बताने के समय की कीमत दो पौंड !" उस भारतीय को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह भागा-भागा वकील से इस बारे में परामर्श करने गया। वकील ने भी उस बिल को चुका देने का समर्थन किया। आखिर भारतीय महोदय ने 'समय की कीमत दो पौण्ड' उसे चुका दिये और एक नया सबक लिया।

पाश्चात्य और समय

परन्तु भारत का यह हाल है कि यहाँ आपको मुफ्त के मार्ग-दर्शक सैकड़ो मिल जायेगे। बिना फीस के आपको तरह-तरह की सलाह देकर अपना समय खराब करने वाले सैकड़ो परामर्शदाता प्राप्त हो जायेंगे। किन्तु पाश्चात्य देशो मे समय की बड़ी कीमत की जाती है; वहाँ मिनट-मिनट का मोल है। वे लोग समय की नियमितता के बारे मे बड़े पक्के हैं। समय पर उपस्थित होने मे वे कभी गलती न करेंगे। समय की पाबंदी उनके जीवन का अनिवार्य अग बन गया है। समय पर अपने कार्यक्रम को न करना, उन्हे बहुत अखरता है। वे अपना जो प्रोग्राम बांध लेते हैं, उसमे बिना सोचे समझे रद्दोबदल नही करते और ठीक समय पर ही उस प्रोग्राम को निभाते हैं। कहना होगा कि समय की इतनी पाबन्दी के कारण ही पाश्चात्य लोग आज विद्या, बुद्धि, धन और स्वास्थ्य सब में भारतवासियो से आगे बढे हुए हैं। भारत की जनसंख्या ४० करोड़ होने पर भी समय के पाबन्द न होने, समय की नियमितता न होने के कारण यहाँ के लोग बहुत पिछड़े हुए है, स्वास्थ्य से भी गिरे हुए है, धनार्जन मे भी काफी पीछे हैं, विद्या और बुद्धि मे भी पिछडे हुए हैं। आगे बढे हुए है तो गप्पें हाकने में, दार्शनिकता बघारने मे, लडाई-झगड़ा करके समय बर्बाद करने में, निन्दा-चुगली करके अपना वक्त काटने मे, व्यसनो की बहार मे पड़ कर दूसरे देशो से बाजी मारने मे। समय का सदुपयोग करने की कला मे पाश्चात्य लोग सब देशो को मात कर गये हैं।

नेपोलियन

नेपोलियन बोनापार्ट समय का बड़ा पाबन्द था। एक बार उसने अपने प्रधान सेनापति को ठीक अमुक समय पर अपने यहा भोजन का निमंत्रण दिया। सेनापति को पहुंचने मे विलम्ब हो गया। अतः जब वह पहुंचा तो नेपोलियन अपना भोजन समाप्त कर चुका था। उठ कर हाथ मुंह धोने के बाद नेपोलियन ने उनसे कहा—"भोजन का समय तो बीत चुका, आइए, अब अपना काम शुरू करे।" सेनापति खता ही रह गया और तब से समय का पालन बराबर करने की ठान ली।

वाशिंगटन

राष्ट्रपति वाशिंगटन भी समय के मामले मे बड़े पक्के थे। एक बार उनके सेक्रेटरी ने विलम्ब से आने के लिए क्षमा मांगते हुए बताया कि उसकी घड़ी लेट चलने लगी थी। वाशिंगटन ने तुरन्त आदेश सुनाया—"जनाब! या तो आप दूसरी घड़ी ले लीजिए, या मुझे दूसरा सेक्रेटरी रखना पड़ेगा।"

इन्ही के जीवन का दूसरा प्रसंग है—राष्ट्रपति वाशिंगटन प्रतिदिन चार बजे भोजन किया करते थे। एक बार उन्होंने अमेरिकन काग्रेस के कुछ सदस्यों को अपने यहाँ भोजन मे सम्मिलित होने का निमत्रण दिया। लेकिन वे लोग निश्चित समय से थोड़ी देर बाद पहुचे तो उन्होने राष्ट्रपति को भोजन करते देखा। इस पर उनके मन को कुछ खेद हुआ। समय के

पक्के पाबन्द राष्ट्रपति ने कहा—"मेरा रसोइया मुझ से यह कभी नही पूछा करता कि "मेहमान आया या नही ? वह केवल यही पूछता है कि भोजन का समय हुआ या नही ?"

भारतीय लोगो ने अंग्रेजो के सम्पर्क से बहुत से गुणावगुण सीखे, लेकिन 'समय की पाबन्दी' बहुत कम सीखी। समय के पाबन्द न होने के कारण 'हिन्दुस्तानी टाइम' नाम से हिन्दुस्तानियो के समय को पहचाना जाता है। 'हिन्दुस्तानी टाइम' का मतलब ही यही होता है, नियत समय से पाव, आध घटा देर से आना। वस्तुत. भारतीय जन-जीवन मे यह सबसे बडी दुर्बलता है कि वे समय के पूरे पाबन्द नही होते। सभा-सोसाइटियो मे वे नियत समय पर प्राय. नही पहुचते, व्याख्यानो मे काफी लेट आते हैं, या तब आते है जब कि कुछ समूह इकट्ठा हो जाता है; मानो समय का पालन करना वे अपना कर्त्तव्य ही न समझते हो। परन्तु पाश्चात्य देशो मे आपको छोटे से छोटे समझे जाने वाले काम को करने वाला व्यक्ति भी समय का पाबन्द मिलेगा।

पाँच मिनट

सेठ निहालसिह नामक भारतीय सज्जन पैरिस की सैर करने गये। वहां उन्होंने मार्ग साफ करने वाले एक हरिजन का फोटो लेना चाहा। हरिजन ने अपनी घडी देखी और बोला—"मेरी ड्यूटी समाप्त होने मे पाच मिनट बाकी हैं। उसके बाद आप चाहें तो मेरा फोटो ले सकते हैं।" सेठ साहब पर इस बात का बडा असर हुआ। उन्होने सोचा—

"पेरिस के हरिजन भी समय के इतने पावन्द हैं कि प्रामाणिकता से ड्यूटी अदा करते हैं, अपने प्रत्येक कार्य को समय-क्रम के अनुसार करते हैं और कहाँ हमारे भारतीय लोग, जो समय को यो ही गपशप लडा कर नष्ट कर देते हैं ?" इसीलिए जैन शास्त्र भी प्रत्येक साधक को पुकार पुकार कर कह रहे हैं—

'काले कालं समायरे'

प्रत्येक कार्य या साधना उसके समय पर ही करो ! समय-पत्रक बना कर समय पर ही उस कार्य को करने मे स्फूर्ति, उत्साह और आनन्द रहता है। समय उस बर्फ की चट्टान के समान है, जिस पर चलने मे थोड़ी-सी असावधानी से मनुष्य फिसल सकता है, किन्तु भारतीय लोग इसे संगमर-मर की चट्टान समझने की गहरी भूल कर रहे हैं !

गांधीजी व समय

पाश्चात्य सभ्यता की अन्य भली-बुरी देनो मे से 'समय की पावन्दी' की देन भी महत्वपूर्ण देन है। और इसकी शिक्षा हमे विदेशी लोगो से लेने मे कोई हिचक नही होनी चाहिये। पं० जवाहरलाल नेहरू, महात्मा गाधी आदि चोटी के राष्ट्र-नेताओ ने अंग्रेजो से समय-पालन की शिक्षा काफी ली थी। महात्माजी तो समय-पालन के पक्के उस्ताद थे। महात्मा गांधीजी समय-पालन के लिए अपने साथ बराबर एक जेब घडी रखा करते थे। घड़ी रखने का उनका उद्देश्य केवल यही नही था कि समय का ज्ञान होता रहे; बल्कि यह भी था कि

जो लोग उनसे मिलने आवे वे निर्दिष्ट समय से एक मिनट भी अधिक न ले सके। सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुई-फिशर जब गांधीजी से मिलने आये तो वार्तालाप का निर्दिष्ट समय व्यतीत होते ही गाधीजी ने उन्हें अपनी घड़ी दिखा दी, जिसका मतलब था कि मुलाकात का समय बीत चुका है। लुई-फिशर ने एक पत्रकार की हैसियत से अपनी पुस्तक मे लिखा है कि "सेवाग्राम ही एक ऐसी जगह थी, जहां उन्हें घड़ी दिखला कर यह सकेत कर दिया गया था कि मुलाकात का समय बीत चुका है।"

दीर्घसूत्री न बनो

जो अपने सभी कार्य समय पर करते हैं, उनके शरीर में स्फूर्ति, तन्दुरुस्ती और प्रसन्नता रहती है। बडे से बडे कार्य को थोडे से समय मे कर सकते है; जब कि समय पालन का अभ्यास नही किये हुए व्यक्ति छोटे-छोटे अनेक कामो की फौज को देख कर घबरा उठते हैं। वे सोच ही नही सकते कि कौन सा काम पहले करना है और कौन सा पीछे ? और इस प्रकार कार्यों से घबरा कर वे आज का काम कल पर और कल का काम परसों पर छोड़ते जाते हैं। उनका जीवन-सूत्र यह बन जाता है—

'आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों।
जल्दी जल्दी क्यों करे, अभी जीना है बरसों॥"

उनके प्राय सभी काम समय पर न होने के कारण ठोस व सुन्दर ढंग से नही हो पाते और कभी-कभी तो अधूरे

ही रह पाते हैं। ऐसे दीर्घसूत्री लोग समय नही मिलने का वहाना वना कर अपने जीवन को निराशा की वालू से भर लेते हैं और स्वय भी निराश एवं चिन्तित होते रहते हैं और अपने सम्पर्क मे आने वालो को भी अपनी टालमटूली आदत के कारण निराश एव हताश कर देते हैं, उनका सहयोग भी कभी-कभी खो वैठते हैं। इसीलिए भारत के संतो ने यह अमूल्य सिखावन दी है—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अव।
पल में परलय होयगा, फेर करेगा कव?

अनुभव का अमृत

इस अमूल्य सिखावन मे जीवन का सारा अनुभवामृत दे दिया है! वास्तव मे किसी भी कार्य को कल पर छोड़ना ही, आज के महत्त्व को घटाना है। जो 'आज' और 'अव' के महत्त्व को समझ जाता है, उसे प्रत्येक कार्य मे रुचि वढ़ती जाती है, वह स्फूर्ति से प्रत्येक कार्य करता चला जाता है। वैदिक महर्षि ने शतपथ ब्राह्मण में यही वात कही है—

'नश्वः श्व इत्युपासीत; को हि मनुष्यस्य श्वोवेद ?'

"कल करूंगा, कल किया जायेगा; इस प्रकार 'कल' की उपासना मत करो, 'आज' के ही उपासक वनो। मनुष्य के कल की वात कौन जानता है ?"

विलम्व न करो

कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिन्हे करना आपके लिए आवश्यक होता है, कभी-कभी तो उन्हें उसी समय करना अनिवार्य होता

है, किन्तु वे कार्य अप्रिय होने के कारण आप उन्हे आगे धकेलते रहते हैं और कभी-कभी तो बिलकुल ही उन्हें भूल जाते हैं। कभी-कभी इस भूल से आपको बडा नुकसान उठाना पडता है। अप्रिय कार्यों को टालते रहने से आपकी आत्म-शक्ति क्षीण हो जाती है। उस अप्रिय कार्य को आप देर से करते हैं या कई दिनो बाद करते है तो आपको उस कार्य मे वह रस, वह तीव्रता और वह रुचि नही रहती, जो आपको उस कार्य के करने का विचार आया तब थी। और इस प्रकार अप्रिय कामो को टालते रहने से दूसरे प्रिय कार्यो पर भी असर पड़ता है और आपकी हर काम को करने की शक्ति क्षीण पड़ जाती है। इतना ही नही, हमेशा इस तरह कामो को टालते रहने से आपके दिमाग पर भार-सा बना रहता है, जो आपको मजबूरी, परेशानी और जल्दी-जल्दी मे काम को किसी तरह खत्म करने की हालत मे ला पटकता है। कार्य की बराबर चिन्ता भी आपके चित्त को धीरे-धीरे जलाती रहती है। इसलिए किसी भी शुभ कार्य मे विलम्ब मत करो, ढिलाई मत आने दो। नीतिकार भी यही सूचित करते है।

'क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्।'

जो काम शीघ्र नही किया जाता, उसका रस काल पी जाता है। समय उसकी तीव्र रुचि को नष्ट कर देता है।

मा पडिबंध करेह

इसलिए दीर्घसूत्रता की भयकर बीमारी के शिकार न बन कर शुभ कार्य शीघ्र कर डालिए। भगवान महावीर ने

भी अनुभव की वाणी मे यही बात कही है—

'मा पड़िबंधं करेह'

शुभ कार्य मे शिथिलता मत करो, शुभ काम रोको मत।

एक लुहार है, वह लोहे के तप जाने के बाद हुक्का गुड़-गुड़ाने लगे, लोहे को घन पर रख कर हथौड़े की चोट धड़ाधड़ न लगाए तो क्या वह उस लोहे से किसी भी चीज को ठंडा होने के बाद बना सकता है ? अनुभव कहता है, लुहार का वहाँ जरा सा भी विलम्ब हानिकर होता है। इसी प्रकार जीवन के अन्य शुभ कार्यो के लिए भी राह मत देखो। उन्हे शीघ्र कर डालो।

रामकृष्ण और साधक

स्वामी रामकृष्ण परमहस के पास एक साधक सयम सग्रहण की ग्रत्युत्कट भावना लेकर उपस्थित हुआ, उसने उनके चरणारविन्दो मे एक सहस्र रुपयो की थैली अर्पित की और नम्र निवेदन किया कि ये मेरे श्रम से अर्जित रुपये हैं, आप इनका जैसा उचित उपयोग समझें वैसा करे। परमहस ने कहा–मुझे इन रुपयो की आवश्यकता नही है। आप इन्हे गगा मैया को अर्पित कर दे। स्वामीजी के प्रस्तुत आदेश से वह अनमने मन से चला, गगा के किनारे पहुँचा पर मानस मे चिन्ता की चिनगारियाँ उछलने लगी। संयम की भावना से उत्प्रेरित होकर उसने थैली का मुह खोला और लगा एक एक रुपये को फेकने। सारे रुपये फेंक कर वह पुनः लौटा, स्वामीजी ने विलम्ब का कारण पूछा तो उसने सारी बात कह दी।

स्वामी जी ने कहा—आप हमारे काम के नही हैं। ज्यों ही उसने यह वात सुनी उसके आश्चर्य का पार नही रहा। वह मन मे जो कल्पना के स्वप्न सजोये हुए था कि स्वामी जी मेरे पर अत्यधिक प्रसन्न होगे और शीघ्र ही अपना शिष्य बना लेंगे, पर स्वामी जी के मुह से अकल्पनीय बाते सुनकर वह दग रह गया। स्वामी जी ने अपनी वात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—जो कार्य तुम एक वार कर सकते थे उसे हजार बार मे किया, यह इस बात का प्रतीक है कि तुम्हारे मन मे ममता है और तुम्हें समय की कद्र नही है। जो समय की कद्र नही करता वह सयम की क्या कद्र करेगा। समय पर नियमोपनियम का क्या पालन करेगा। अत तुम संयम-साधना सग्रहण के योग्य नही हो।

धन्य धन्ना

जैन साहित्य का एक सुनहला प्रसंग है—

स्वर्ण-मण्डित शयनागार मे, रत्न-जटित लघु पाट पर एक युवक बैठा हुआ था, चारो ओर रमणियाँ मनोहर गग-रियाँ लेकर खड़ी थी, शीतल मन्द सुगन्ध सलिल से युवक को नहला रही थी। कोई अपने कोमल करो से शिर मल रही थी। कोई पीठ रगड रही थी, कोई हाथ को साफ कर रही थी, कोई पैरो को धो रही थी। बीच बीच मे वार्तालाप व मज़ाक हो रहा था, साथ ही हसी के फुहारे छूट रहे थे। युवक यौवन की मस्ती मे झूम रहा था। यकायक युवक के पीठ पर गर्म पानी की बूद गिरी। शीतल पानी मे गर्म पानी को बूद कहा

से आई। युवक ने ऊपर देखा, पत्नी सुभद्रा के नयनो से नीर बरस रहा है। "प्रिये ! क्यो रो रही हो, क्या किसी ने तुम्हें नाराज कर दिया है ?"

"नाथ ! क्या कहूँ, हृदय रो रहा है, मन म्लान हो रहा है। भाई शालिभद्र साधु बनने जा रहा है। वह एक २ पत्नी का परित्याग कर रहा है। बत्तीस दिन मे बत्तीस पत्नियो को छोड़कर साधु बन जायेगा। उसकी मधुर स्मृति मे आँखे आंसू बरसा रही हैं।" सुभद्रा ने कहा।

युवक ने मुस्कराते हुए कहा—"प्रिये ! तुम्हारा भाई तो कायर प्रतीत होता है। शुभ कार्य मे विलम्ब करना कहाँ तक उचित है, जब त्यागना है तब एक-एक को त्यागना बुजदिली-पन नही तो क्या है ?"

पति के ये बोल सुभद्रा के हृदय मे चुभ गये। वह स रही थी कि पति मुझे सहानुभूति देंगे। पर उसके विपरीत फटकार सुन कर उसने कहा—"नाथ कहना सरल है पर करना कठिन है।"

एक ही शब्द से युवक की मोह-निद्रा भंग हो गई। वह जिस रूप मे था उसी रूप मे चल दिया। "नाथ, कहाँ जा रहे हैं हम अबलाओ को छोड़ कर ?" वे रो पड़ी, हजार-हजार आँसू बरसाती हुई बोली, "हमारा अपराध क्षमा करो।" पर युवक रुका नही, शरीर से पानी की बूंदें टपक रही हैं, युवक चला जा रहा है। शालिभद्र के भव्य-भवन के पास युवक के कदम रुके, उसने आवाज़ दी—"शालिभद्र, क्यो विलम्ब कर रहे हो,

माता और पत्नियो को क्यो बार-बार रुला रहे हो, चलो, शीघ्र चलो, हम दोनो महावीर के चरणो मे दीक्षित बने ।" धन्ना की आवाज से शालिभद्र उठ खडे हुए। दोनो महावीर के चरणों मे पहुचे और दीक्षित बन गये।

काल ही कला

यह है समय को पहचानने, अवसर को पकड़ने और काल की कला को समझने का रहस्य ! आपके जीवन मे जब कभी शुभ समय आवे, सुन्दर हितकर अवसर आए, तो उसे हाथ से कभी न जाने दें, नही तो वह पश्चात्ताप का इजेक्शन देकर जायगा, जिसका दर्द सारी उम्र भर रहेगा। अवसर को, शुभ समय को नही खोने वाले ससार के इतिहास में चमके हैं। जिन्होने शुभ अवसर को खो दिया, अवसर ने उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अत. इस क्षणिक जिन्दगी में आने वाले मधुर अवसरो को, अपूर्व समय को पहिचानना सीखो, और उस समय जो महत्त्वपूर्ण कार्य हो उन्हे सबसे पहले करना शुरू करो, जिससे जीवन चमक उठेगा।

जीवन का अमूल्य धन

अमूल्य धन

भारतीय धर्म और दर्शन में समय को जीवन का अमूल्य धन कहा है। समय जीवन की अनमोल निधि है। जो इस निधि की उपेक्षा करता है वह विधि के सम्पूर्ण वरदानो से वचित रहता है, जो एक वर्तमान क्षण की अवहेलना करता है वह हजारो क्षणो की अवहेलना करता है। अतीत के क्षण कब्र मे हैं, भविष्य के क्षण गर्भ में है एतदर्थ वर्तमान क्षण को ही सर्वस्व समझ कर साधना के महामार्ग पर निरन्तर शेर की तरह बढ़ना चाहिए। समय शब्द 'सम' माने समाभावन से 'अय्' माने गमन करना है अर्थात् आत्मा की समभाव परिणति का नाम समय है। आपने जहाँ भी समय को परखने मे गलती की, मौज-शौक, ऐशो-आराम और तड़क-भड़क मे अपनी अमूल्य समयावली को खर्च करना शुरू किया कि आपके काबू में समय नही रहेगा, उस समय समय ही आप पर काबू पा लेगा।

जल्दी के कोड़े

आज की दुनिया एक अजीब खिचाव की हालत से गुजर रही है। लोगो के सामने समय बहुत थोड़ा रहता है, जिदगी

छोटी-सी रहती है और काम बहुत से करने होते हैं, इसलिए वे वेहद परेशानी, हैरानी और जल्दी मे रहते हैं, उन्हे आराम करने की भी फुरसत नही मिल पाती। फिर भी 'जल्दी के कोड़े' उनको पीठ पर लगते ही रहते हैं। 'शीघ्रता करो' के इजेक्शन उनके दिमाग में लगते रहते हैं। मानो, उन्हे चलते ही रहना है, काम करते ही रहना है। अगर कुदरत ने रात न वनाई होती तो शायद मनुष्य आराम भी न करता, चौबीसो घटे काम मे सलग्न रहता। लगभग सौ साल पहले जब यात्रा ऊटगाडी या घोडागाड़ी से होती थी, लोग सवारी न मिलने पर या तो पैदल चल पडते थे या उसके लिए कई दिनो तक इतजार के बाद सवारी का इतजाम करते थे। पर आज तो ट्राम या बस छूट जाने पर अगर दूसरी ट्राम के लिए पांच मिनट भी इतजार करना पडता है तो आदमी वेचैन हो उठता है। ऐसा क्यो ? क्योकि आज सबको काम ज्यादा है और समय कम है। समय और काम का वे सन्तुलन नही कर पाते हैं और इस प्रकार समय बचाने की नई-नई तरकीबे वैज्ञानिक लोग आजमा रहे है, फिर भी समय का बचाव करके भी लोग महत्त्वपूर्ण कार्यो को ठीक तरह से, ठीक समय पर नही कर पाते हैं और निरर्थक अथवा गौण कार्यों को करने मे समय का बहुत सा भाग खर्च कर डालते हैं। कितना समय कहाँ और किस काम मे देना चाहिये, और कितना कहाँ व किस काम मे, इसकी समतुला दुनियावी लोग अभी तक नही बिठा सके हैं। इसी कारण आज के लोगों की जिदगियाँ बेचैनी से भरी हैं। वे घडी भी रखते हैं, समय

जानने के लिए, तेज से तेज सवारी का समय बचाने के लिए उपयोग भी करते हैं, परन्तु यह सब करने के वाद भी उन्हे अपने जीवन मे आराम, सतोष और शान्ति नही ।

ज़िन्दगी की धरोहर

इसका मुख्य कारण है—समय का सदुपयोग करने की और समय का सम्यक् विभाजन करने की कला का अज्ञान ! महत्त्वपूर्ण कार्यो को ठीक समय पर न करना और अमहत्त्वपूर्ण कार्यों मे समय को बर्बाद करना भी जीवन-रस को सुखाने मे एक कारण बना हुआ है। भारतीय लोगो में से आपको बहुतेरे इस आदत के शिकार मिलेंगे, जो शौच जाने के समय भोजन करने बैठेंगे और भोजन के समय शौच जाने की तैयारी करेंगे। प्रात.काल ब्राह्ममुहूर्त्त मे उठ कर आत्म-चिन्तन करने की जगह उनका चाय-चिन्तन या बीड़ी-चिन्तन चलेगा। जब सूर्य की किरणे उनके शरीर पर पड़ेंगी, तब जागेंगे, और रात को सोने के समय को ताश, चौपड़ खेल कर या उपन्यास पढ़ कर, सिनेमा देख कर बर्बाद कर देंगे। जिस काम को जिस समय नही करना है, उस काम का चिन्तन वे उस समय मे कर के दिमाग को परेशानी मे डालेगें या बहुत पहले से ही फालतू की ऊलजलूल कल्पनाओ में घुल कर अपना मस्तिष्क खराब करेंगे। इस प्रकार अमूल्य समय-धन को जो उनकी जिंदगी की एक बहुत बड़ी धरोहर है, व्यर्थ के कार्यो मे खर्च कर के आत्मा व परमात्मा के प्रति और समाज के प्रति भी द्रोह करते हैं।

एक प्रहर का राज्य

भारतीय सस्कृति की एक प्राचीन कहानी इस विषय मे बहुत सुन्दर प्रकाश डालती है—

एक पाठशाला थी, जहाँ दो सेठ के लडके और एक राजा का लडका साथ-साथ पढते थे। आम तौर पर बडो की मित्रता बड़ो से हो जाती है, पर गरीबो से होने के कम उदाहरण मिलते हैं। वे तीनो लडके बड़े आदमियो के थे, इसलिए उनमे शीघ्र ही गहरी दोस्ती हो गई। किन्तु जब अध्ययन समाप्त हुआ तो सेठ के दोनो लडको ने राजा के लडके से किनारा करना शुरू कर दिया। उसके साथ मिलना-जुलना कम कर दिया। बातचीत भी कम कर दी। राजा के लड़के ने सोचा—यह क्या बात है ? ये दोनो बच-बच कर क्यो रहते हैं ? एक दिन किसी स्थान पर तीनो की मुठभेड़ हो गई। राजपुत्र ने पूछा—'क्यो भैया, क्या कारण है, आजकल आप मुझ से अलग रहने लगे हैं ? क्या अब हम लोग मित्र नही रहे हैं ?' सेठ के लड़के बोले—"आपका मैत्री-भाव प्रशसनीय है, लेकिन आप मे और हम मे अन्तर है। आप राजा के लड़के हैं और हम वणिक् के। पढाई समाप्त होते ही हमे दूकान सभालनी होगी और आप राजा बनेगे तथा हम आपकी प्रजा होगे। आपके फरमान निकलेंगे, और हमे सिर झुका कर तस्लीम करने होगे। तो आपकी और हमारी यह दोस्ती कितने दिन चल सकती है ? दोस्ती बराबरी की होती है, यह सोच कर पहले से ही हम रास्ता अलग बना रहे हैं।

राजकुमार बोला—'भली विचारी तुमने ! अजी, वह कोई और होगा जो बदल जायेगा। मै राजा बनूगा तो राजा की जगह बनूगा, पर हमारी तुम्हारी मैत्री मे अन्तर क्यो आ जायेगा ? तुम मित्र रहोगे तो तुम भी राजा बनोगे।' सेठ के दोनों पुत्र कहने लगे—'ऐसी बात है, तो कभी जरूरत पड़ने पर हमे भी राजा बना देना।' राजकुमार बोला–'हाँ, हाँ मैं वचन देता हूँ कि मैं राजा बनूगा तो तुमको भी एक बार राजा बना दूंगा।' कुछ समय पश्चात् राजकुमार राजा बन गया और सेठ के दोनो पुत्रो ने अपनी-अपनी दूकाने संभाली। संयोगवश एक श्रेष्ठी-पुत्र की दूकान मे घाटा लग गया। व्यापार लड़खडाने लगा। उसका देना अधिक रह गया और लेना कम। फलत. मागने वाले आ आ कर तंग करने लगे। श्रेष्ठी-पुत्र ने इधर उधर बहुत हाथ मारे लेकिन सफलता न मिली। तभी उसे राजा के दिये हुए वे वचन याद आए। सोचा—'राजा ने मुझे वचन दे रखा है, उसके लाभ उठाने का उपयुक्त अवसर तो यही है।' वह भागा भागा राजा के पास गया। राजा ने कहा—'आप जो सहायता चाहे मुझ से माग सकते है।' सेठ के लडके ने कहा—'आपने एक बार राज्य देने का वचन दिया था न ?' राजा को अपने वचन याद आए, मगर राज्य देने का नाम सुन कर वह कुछ देर गहरी चिन्ता मे पड़ गया। फिर भी सभल कर उसने कहा—'अच्छा, मैं आपको एक पहर के लिए राजा बनाता हू।' यो कह कर, राजा सेठ को राजा बनाने का आदेश अपने सेवको को दे कर अपने महल मे चला गया। श्रेष्ठिपुत्र शीघ्र ही उठ कूद कर सिहा-

सन पर बैठ गया । राजमन्त्रियो ने कहा—'अभिषेकादि की विधि होने दीजिए, राजा के योग्य वस्त्राभूषण धारण कर लीजिए, तब यह सिंहासन अधिक सुशोभित होगा ।' सेठ राजा बोला—'वस्त्राभूषण की क्या आवश्यकता है ? और अभिषेकादि विधि की जरूरत क्या है ? बस, हम तो राजा हो चुके ।' और स्वत प्रेरणा से ही वह आदेश देने लगा—'इतने रुपये मेरे घर भेज दो ।' लेने वालो से कह दिया—'जिसका लेना हो अभी ले लो ।' जितने साधारण आदमी और भिखारी आए, उन सब को किसी को कुछ, किसी को कुछ बांट दिया । नौकरो और राजकर्मचारियो की तनख्वाह दुगुनी और तीगुनी कर दी । घोषणा करवा दी—'जिसे जो चाहिये ले ले, मैं राजा बन गया हूं ।' सारे नगर मे हलचल मच गई । इस प्रकार एक प्रहर समाप्त होने से पहले ही वह सिंहासन से नीचे उतर गया और बोला—'अब हम घर जायेंगे ।' जय-जयकार के साथ वह घर चला गया और आनन्द मे रहने लगा । उसने एक पहर मे राज्य का खजाना खाली कर दिया और करोड़ो का माल अपने साथ ले गया । कालान्तर मे दूसरे सेठ के लड़के की दूकान मे भी घाटा लग गया । उसने भी अपने मित्र की तरह ही राजा के पास पहुँच कर अपने दिये हुए वचन की उन्हे याद दिलाई । उसे भी राजा ने अपने वचन के अनुसार एक प्रहर का राजा बना दिया । वह राजमहल मे पहुँच कर सोचने लगा—'राजा बनना है तो शान के साथ बनना चाहिए । रौब के साथ सिंहासन पर बैठना चाहिए । उसने हजामत के लिए नाई बुलवाया, उबटन करवाई, स्नान किया । इनसे निवृत्त

हो कर राजा के पहनने योग्य सुन्दर से सुन्दर पोशाके मगवाईं। थोड़ी देर मे उसके सामने पोशाकों का ढेर हो गया। वह काफी पेशोपेश में पड़ गया कि कौनसी पोशाक पहनूं, कौनसी न पहनू ? यह ठीक है, लेकिन इससे भी वह ठीक रहेगी, यह भी अच्छी है, मगर यह इससे भी अच्छी है, और यह ? यह भी ठीक है। वह मानसिक विचारो के घोड़े पर काफी देर तक दौड़ता रहा। इस प्रकार पोशाक का चुनाव करने मे बहुत-सा समय लग गया। आखिर एक पोशाक सज कर वह सिंहासन पर बैठा ही था कि मत्री ने घण्टी बजा कर सूचना दी कि एक प्रहर पूरा हो गया है। अब आप यह राजसी पोशाक उतार दीजिए।' वह सेठ राजा बोला—'अरे भाई ! मैं तो अभी ही बैठा हूं, अभी तो मैं कुछ भी नही कर सका।' मत्री बोला—'यह तो पहले सोचने की बात थी। आप तो स्नान-शृङ्गार करने और पोशाक सजाने मे ही रह गए। वेशभूषा से ही चिपट गए। आपका साथी तो चट उछल कर सिंहासन पर सवार हो गया था। उसने तो क्षण भर भी विलम्ब नही किया।' इसी बीच जो मागने वाले आए थे, उनके लिए नौकरो को आदेश दिया—'जूते लगाओ इनके, मेरे पास क्या रक्खा है ?' और भिखारियो से कहा—'भागो यहाँ से, मैं तो सिर्फ मौज करने के लिए राजा बना हूँ। तुम्हारे लिए नही। इस प्रकार मांग कर तुम मेरी इज्जत हतक करते हो ?' इन सब कारणो से जब यह घर की ओर लौटा तो उसके भी जूते ही पड़ गये। लोगो ने चारो ओर से घेर कर कहा—'बोलो, क्या लाये हो खजाने से ? लाओ, हमारी रकम

चूकता करो ! पहर भर के लिए तुम राजा बने थे, क्या किया इसी बीच मे ? वह बेचारा पछताने लगा और किसी तरह मागने वालो से पिण्ड छुडाया।

हाँ तो, हमारी कहानी समाप्त हो गई है। कहानी मे बताए हुए दोनो पहलुओ को आप समझ ही गए होगे। एक ओर समय का सदुपयोग करने वाले का निरूपण है तो दूसरी ओर समय को अनावश्यक कार्यों मे व्यतीत करने वाले का निरूपण है।

क्या समय खराब है ?

अब आपके सामने समय के दूसरे पहलू पर विचार करना है। आजकल बहुत से लोग इतने आलसी, अकर्मण्य, कायर व पुरुषार्थहीन हो गए हैं, कष्टकातर भी हो गए हैं कि वे समय पर कुछ भी कार्य ठीक ढग से नही कर पाते, अपनी शक्ति का ठीक उपयोग नही कर पाते, इसलिए अपने दोष को वे समय के सिर पर मढ देते हैं। वे कहते है—'आजकल तो पचमकाल है, कलियुग है, समय ही खराब है। इस समय मे धर्मकर्म मे कुछ पुरुषार्थ नही हो सकता। काल ही बड़ा बलवान् है, जो करता है समय ही करता है। हम तो समय के हाथ की कठपुतली हैं, वह जैसा नचायेगा, नाचना पडेगा।' एक आचार्य ने इसी बात की पुष्टि करते हुए कह दिया—

'समय एव करोति नलाबलम्'

'मनुष्य अपने आप मे न बलवान् है और न दुर्बल। समय या काल ही मनुष्य को महान् व क्षुद्र बनाता है।'

मानव काल का निर्माता है

इस प्रकार आचार्य ने सम्पूर्ण शक्ति काल के हाथो मे सौप कर मनुष्य को पगु बना डाला है। मनुष्य काल के अधीन है। काल अच्छा तो मनुष्य अच्छा, काल वुरा तो मनुष्य भी वुरा। किन्तु जैन धर्म के महान् चिन्तको ने इस तथ्य से इन्कार किया है। उन्होने मनुष्य के जीवन की बागडोर काल के हाथो मे न सौप कर, स्वयं मनुष्य के हाथो मे सौपी है। अगर काल ही सब कुछ करता तो सतयुग मे समूची सृष्टि का उद्धार क्यो नही हो गया ? इसलिए मनुष्य काल के हाथ की कठपुतली नही, जो जिधर चाहे पकड़ कर नचा दे। काल मनुष्य का निर्माण नही करता, मनुष्य काल का निर्माण करता है। एक शायर ने कहा है :—

'अपना जमाना बनाते हैं अहले दिल।
हम वोह नहीं कि जिनको जमाना बना गया ॥'

मनुष्य के उत्थान-पतन की वागडोर काल या किसी दूसरी शक्ति के हाथ मे नही है। मनुष्य अपना निर्माता-त्राता स्वयं ही है। जव मनुष्य के मन, वाणी व कर्म मे पुरुषार्थ, न्याय-नीति एव सत्य का प्रकाश जगमगाता है तो वह अपने आप में अच्छा वनता है और साथ मे काल को भी अच्छा बनाता चला जाता है। परन्तु जव वही मानव भावना, सच्चरित्रता एव सयमशीलता से स्खलित हो, उस समय उसका शतमुख पतन होता है और साथ में वह काल पर भी 'वुरेपन' की छाप लगा देता है।

अच्छा और बुरा

वस्तुतः काल अपने आप मे न अच्छा है और न बुरा। उसका अच्छा-बुरापन मनुष्य के अच्छे-बुरेपन पर अवलम्बित है। मनुष्य का उत्थानकाल ही सतयुग है और पतनकाल ही कलियुग है। बाह्य-जगत् मे सतयुग हुआ और हमारे मन में कलियुग हुआ तो बतलाइये सतयुग ने हमारे लिए क्या किया ? मन मे सतयुग हुआ तो बाहर का कलियुग भी सतयुग बन जाता है और मन पर कलियुग छाया रहता है तो बाहर का सतयुग भी कलियुग का रूप धारण कर लेता है। एक ही समय मे राम हुआ तो रावण भी हुआ, कृष्ण हुआ तो कस भी हुआ। कलियुग मे गाँधी हुआ तो गोडसे भी हुआ। अन्त-र्जीवन का युग ही असली युग है। भारत के उस चिन्तनशील ऋषि की भाषा भी इसी युग-तथ्य की ओर इगित कर रही है —

'कलिःशयानोभवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन्॥

जब मनुष्य अज्ञान की काली चादर ओढ कर मोह की गहरी नीद में सोया रहता है तो वह कलियुग है, जब वह अन्तर्जागरण की अगडाई लेकर सत्य ज्ञान के प्रकाश मे आँखे खोलता है तो वह द्वापर है; जब वह सत्य मार्ग पर चलने के लिए तन कर खडा हो जाता है तो वह त्रेता है और जब वह दृढता के साथ सत्य मार्ग पर चल पडता है तब जीवन का सतयुग है।

इसलिए काल अपने आप मे कुछ नही है। मनुष्य के मन, वाणी और कार्य पर ही अच्छाई या बुराई निर्भर है।

समयज्ञ बनो

समय अपना काम करता है, मनुष्य को अपना काम करना है। प्रकृति के सभी पदार्थ, ऋतुए, मास, पक्ष, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे आदि अपने-अपने समय पर आते है और चले जाते हैं। सर्दियो मे सर्दी पड़ती है और गर्मियो मे गर्मी। परन्तु जो मनुष्य इन अलग-अलग ऋतुओ या मास आदि को पहिचान लेता है और इनके अनुसार अपनी व्यवस्था कर लेता है, इनके साथ अपनी सगति बिठा लेता है, जीवन-गति बना लेता है, उस पर इनका कोई खास प्रभाव नही होता, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। किन्तु जो मनुष्य विवेकहीन हो कर इन्हें नही पहिचान कर अपनी जीवन-सगति नही बिठाता है, उन पर ये हावी हो जाते हैं, अपना प्रभाव भी डालते हैं। जो उच्च कोटि के सामर्थ्यशील और विवेकी, वीतरागी एव मनोबली पुरुष हैं, वे इनके साथ सगति न बिठाएँ तो भी चल सकता है, उनके प्रबल मनोबल पर इनका कोई असर नही पडता। वे इन सब पर आधिपत्य जमाए हुए होते हैं।

जैनागमो मे साधक के लिए यह आदेश है कि वह प्रत्येक कार्य 'काले काल समायरे' और उसके लिए समयज्ञ होना भी आवश्यक है। 'कालन्ते' कह कर इस ओर सकेत किया है। जो साधक समय की अवहेलना करता है वह 'कालस्स आसायणाए' काल की आशातना करता है। जो विचक्षण है वह द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव के अनुसार ही प्रवृत्ति करते है। कहा है—

'वर्तमान कालेन प्रवर्तन्ते विचक्षणाः'

हाँ, तो समय जीवन का अमूल्य धन है। समय का जीवन के व्यवहार मे कैसा व किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, समय के सदुपयोग से जीवन मे किस तरह चमक-दमक आती है, इस पर सक्षेप मे चर्चा की गई है। समय का यदि आपने सही मूल्याङ्कन किया तो जीवन चमक उठेगा।

मनो विजेता जगतो विजेता

आज से ही नही हजारों वर्षो से, जब से मानव जाति ने सभ्यता और सस्कृति की करवटे बदली हैं, तब से आज तक ससार के सभी मानस-शास्त्री मन पर सोचते आ रहे हैं, मनन और विश्लेषण करते आ रहे हैं। भारतीय मनस्वियों और धर्म-धुरधरो ने दर्शन शास्त्र की दृष्टि से इसका विश्लेषण किया है। भारत के अद्वितीय दर्शन वेदान्त ने तो मन पर चिन्तन करने मे मात ही कर दिया है। पाश्चात्य विचारको ने मनोविज्ञान की दृष्टि से या मानस-शास्त्र की दृष्टि से मन पर काफी मथन किया है, विवेचन किया है और इसकी प्रत्येक हल-चल पर बारीकी से विश्लेपरग भी किया है। भारत के ऋषि-मुनियो और योगियो ने तो मन की स्थूल वृत्तियो को रोकने का विश्लेषरग ही नही, साक्षात् प्रयोग भी किया है। सभवत: भारत के ऋषि-मुनियो और योगियो की उड़ान तक पाश्चात्य मनोविज्ञान-वेत्ता अभी नही पहुच पाए हैं। भारतीय महामनी-षियो ने मन को वश मे करने की कला सीखने के लिए गहन जगलो, गिरिगह्वरो और ऊचे-ऊचे पर्वतो की खाक छानी है। इस भौतिकवाद के उबाल के युग मे भी यहाँ के कई योग-साधनापरायरग मानव मनोवृत्तियो की गहराई से छान-बीन

करने और उन्हे अपनी मुट्ठी मे करने के लिए सयम-साधना और आत्मा-आराधना के कण्टकाकीर्ण पथ पर मुस्तैदी के साथ अपने कदम बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। जब मन-मातग विषय रूप वन मे स्वच्छद हो कर विचरण करना चाहता है, अनिन्द्य सुन्दरी सुरबालाओ की श्रुति मधुर स्वर्गीय सगीत की स्वरलहरियाँ सुनने को लालायितहो जाता है। कभी उनका नेत्रहारी नृत्य देखने को उत्सुक हो उठता है, कभी सुगन्धित सुमनो की सौरभ ग्रहण करने को छटपटाता है, तब वह साधक उस पर ज्ञान का अकुश लगा कर उसे स्वच्छन्द विचरण करने से रोकता है। क्योकि वह जानता है कि मन को मुट्ठी मे कर लिया तो सारे ससार को मुट्ठी मे किया जा सकता है। इसीलिए कहा है—

'मनो विजेता, जगतो विजेता'

'मन का विजेता सारे ससार पर विजय पाने वाला है।'

हार और जीत

जो मनुष्य मन को अपने वश मे कर लेता है, मन मातंग पर अपना अकुश लगा देता है, वह जीवन के सभी मैदानों मे विजय पाता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र मे उसकी हार नही होती। क्योकि जीवन के रणक्षेत्र मे मन ही सबसे बडा योद्धा है, सेनापति है, बाकी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उसकी आज्ञा मे चलने वाली सेना है। अगर मन रूपी सेनापति हार गया, जीवन के मैदानो मे उसने विकारो और वासनाओ के सामने हथियार डाल दिए तो सारी सेना को हार है, आत्मा-रूपी राजा की भी वह हार समझी जायेगी और अगर मन रूपी

सेनापति जीवन के युद्धक्षेत्र मे जम कर लडता रहा, विकारों और वासनाओ से, और क्षण भर भी उसने असावधानी नहीं की तो समझो, उसकी जीत है और उसकी जीत के साथ ही उसके आत्मारूपी राजा की भी जीत समझी जायेगी। कहा भी है—

'मन के हारे हार है और मन के जीते जीत'

जीवन कुरुक्षेत्र है

जीवन के कुरुक्षेत्र मे किसी भी शुभ कार्य को करते समय भी अगर मन हार गया, मन निराश हो गया और मन ने उसके करने से जवाब दे दिया तो समझिये उस कार्य मे आपको सफलता के दर्शन नही होगे और यदि मन उस कार्य में अन्त तक साथ जुटा रहा, मन ने अपना सहयोग पूर्ण रूप से दिया, मन ने निराशा और हताशा नही दिखाई तो समझिए आप उस कार्य मे सफल होगे। सफलता सुन्दरी आपके गले में वरमाला डाल देगी।

मन का खेल

सारा संसार आज मन के खेल पर निर्भर है। अगर मन रूपी मदारी ने अच्छे खेल दिखाए तो सारा संसार आपकी ओर आकृष्ट हो जायगा, सारा ससार आपके वश मे हो जायगा और यदि मन रूपी मदारी ने बुरे खेल दिखाए, क्रीड़ाभूमि मे उलटी क्रियाए की तो ससार आपसे दूर भागेगा, ससार को आप वश मे नही कर सकेगे।

मन की देन

सारा ससार मन ही का तो रचा हुआ है? मन ने ही तो ससार के बड़े-बड़े काम किए हैं? संसार के अच्छे-बुरे,

सुन्दर-असुन्दर कार्यों, गतिविधियों और क्रियाकलापो का निर्माता मन ही तो है। मन ने ही तो अपना जीवन-महल खड़ा किया है, वह चाहे अच्छा किया हो या बुरा। ससार मे आज जितना विकास हुआ है, मानव ने इस ससार में जो भी आशातीत प्रगतिया की हैं, जितने बड़े-बडे गौरवशाली कार्य निष्पन्न हुए है, सब मन की ही देन हैं। और साथ ही ससार को विनाश-लीला की ओर ले जाने के लिए युद्ध, झगड़े, सघर्ष, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार, अन्याय, छल-फरेब आदि जितने भी तबाही के कार्य हुए है, वे भी मन की ही देन हैं।

ससार का भाग्य-विधाता

प्रकृति के भरोसे पड़ा रहने वाला मानव आज वैज्ञानिक युग मे आ पहुँचा है; आकाश और पाताल को भी मुट्ठी मे करने लगा है, जल, स्थल और नभ पर भी आधिपत्य जमाने को तत्पर है; इसका मूल कारण मन है। दूसरी ओर मनुष्य को हैवान और शैतान बना देने वाला, मनुष्य की जिन्दगी को विनाश के गर्त्त मे गिरा देने वाला और मनुष्य को पद-पद पर शोक सागर मे डुबाने वाला भी अगर कोई है तो मन ही है। इस प्रकार मन ने अपने अभावो से, दु खो से और क्लेशो से लडने के लिए निरतर लडाइयाँ लडी और एक सुन्दर ससार का निर्माण कर लिया और साथ ही दु खो, अभावो, संक्लेशो, द्वन्द्वो आदि मे पिसते रह कर मन हारा और अपने लिए भयानक रौरव नरक भी खडा कर लिया। इसलिए मन चाहे तो ससार मे स्वर्ग भी उतार सकता है और वह चाहे

तो नरक का दृश्य भी उपस्थित कर सकता है। स्वर्ग और नरक दोनो मन की मुट्ठी मे हैं। मन ही सारे संसार का भाग्य-विधाता है।

बन्धन और मोक्ष

आत्मा को बन्धन की बेडियो मे कैद करने वाला और मुक्ति मे मुक्त विहार कराने वाला मन ही है। मन ही मानव के समस्त जीवन का केन्द्रबिन्दु है। इसी कारण भारतीय दार्शनिको ने तथ्य की भाषा मे कहा—

"मन एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयोः"

"मनुष्यो के बन्धन और मोक्ष का कारण मन है। मन ही मन का शत्रु है और मन ही मन का मित्र है। मन ही जीवन को बुराइयो मे पटक कर उसका दुश्मन बन जाता है और मन ही जीवन को अच्छाइयो की ओर ले जाकर उसका दोस्त बन जाता है।"

शत्रु और मित्र

यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात से पूछा गया कि आप का सबसे बडा साथी कौन है? मुस्कुरा कर उन्होंने उत्तर दिया— 'मन', मन ही मेरा सबसे बडा साथी है।' पुन. पूछा गया कि इस जगती-तल पर आपका सबसे बड़ा दुश्मन कौन है? दार्शनिक ने उसी तरह फिर उत्तर दिया—'मेरा मन!' जैसे उक्त दार्शनिक की वाणी मे मनुष्य का शत्रु और मित्र मन है, वही बात उससे पूर्व भगवान् महावीर ने कही—

"अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ।"

आत्मा ही जब त्याग वैराग्य की पगडंडी पर मन के माध्यम से चल पड़ता है तो वह आत्मा का मित्र है और आत्मा ही जब वासना के दलदल मे, मन की बहकावट मे आ कर फस जाता है तो आत्मा ही शत्रु बन जाता है।

मन की कहानी

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र राजगृह के बाहर अडोल ध्यान-मुद्रा में खडे थे। सम्राट् श्रेणिक श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर के दर्शनो के लिए उसी मार्ग से होकर चला जा रहा है। बीच मे ही उसकी दृष्टि राजर्षि पर गिरी। उनकी अडिग साधना को देख कर राजा का हृदय श्रद्धा से भर गया, उनका मस्तिष्क ऋषि के चरणो में गिर गया। वे सीधे भगवान् महावीर के समवसरण (परिषद्) मे पहुचे, उन्हें वन्दन किया और मानस-पटल पर जिन राजर्षि की साधना के चलचित्र अकित थे, उनके सम्बन्ध मे प्रश्न किया—'भगवन्! यदि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि इस समय आयुष्य पूर्ण करें तो कहाँ जाएँ?' महावीर ने मधुर-स्वर मे कहा—'राजन्! सातवी नरक मे।' 'क्या कहा भगवन्, सातवी नरक मे? मेरे कानो को विश्वास नही हो रहा है! ऐसा उन्नत साधक और सातवी नरक मे जायेगा तो फिर हम जैसे वासना के कीड़े कहाँ जायेंगे?' उनका मन समाधान नही पा रहा था अत. अकुलाते मन से पुनः प्रश्न किया—'भगवन्! अब उनकी मृत्यु हो तो?' 'प्रथम नरक!' महावीर ने सम्राट् को उत्तर दिया। अभी उनके

मन का पूर्णतया समाधान नही हुआ था। कौतुहल और जिज्ञासा के हिंडोले मे डोलते हुए उन्होने पुनः वही प्रश्न दुहराया तो भगवान् ने कहा—'अब वे स्वर्ग के पथिक हैं, प्रथम स्वर्ग के।' श्रेणिक अभी कुछ सोच ही रहे थे कि अचानक आकाश से देव-दुंदुभियों का निनाद सुनाई दिया। श्रेणिक ने पुन निवेदन किया—'भगवन्, यह असमय मे दुदुभियो का निनाद क्यो?' भगवान् बोले—'सम्राट्! यह प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवल ज्ञान, केवल दर्शन हो गया है, उसी की घोषणा देवगण दुंदुभियाँ गड़गडा कर कर रहे हैं।' श्रेणिक ने विस्मित मुद्रा मे कहा—'भगवन्! मैं समझ नही सका यह पहेली! कुछ मिनटो पहले सातवी नरक, और अभी कैवल्य? जरा, इस समस्या का स्पष्ट समाधान करे, तो श्रेयस्कर है।'

करुणामूर्ति महावीर कहने लगे—'श्रेणिक, जिस समय तुम राजर्षि को वन्दन कर मेरे पास आए थे, उस समय उनका तन तो मुनि साधना मे था, पर उनका मन अन्यत्र ही गति कर रहा था। वह उस समय भीषण सहार के लिए उछल-कूद मचा रहा था। तुम्हारे आगे-आगे उसी राह से गुजरते हुए दो व्यक्ति यो बातें करते जा रहे थे कि 'देखो, कैसा ढोंगी बना है, यह साधु? अपने नन्हें पुत्र पर राज्य का भार डाल कर स्वय साधु बन गया और उधर शत्रुओ ने मौका देख कर उस पर आक्रमण कर दिया। अब वह बालक राजा शत्रु की विशाल सेना से घिर गया है और उसके लिए राज्य तो विपत्ति बना हुआ है! अब तो वहाँ शत्रु ही मौज उड़ायेंगे? इन्होने बच्चे

को राज्य सौप कर भारी अन्याय किया है !' ये शब्द राजर्षि के कानो से टकराये और उनके मन मे उन आक्रान्ताओ के प्रति विद्वेष की आग भड़क उठी । मन मे क्षत्रिय का शौर्य तेज हुंकारने लगा और मन युद्ध के मोर्चे पर जा डटा । दोनों ओर शस्त्रास्त्रों के भीषण प्रहार हो रहे थे। कषाय की तीव्रतम ज्वाला में राजर्षि का मन झुलसने लग गया और यह वही क्षण था, जिस समय तुमने सर्वप्रथम प्रश्न किया था एव मैंने तुम्हे उनकी मन:स्थिति को टटोलते हुए सातवी नरक का उत्तर दिया था । उस समय उनका बाह्य शरीर साधना मे था, जब कि मन रणभूमि मे, युद्ध के मोर्चे पर था । युद्ध जब जोर-शोर से चल रहा था, हजारो वीर उनके मन की युद्धैषणा से कट मरे थे, शत्रुदल भी समाप्ति पर था, शस्त्र-सामग्री भी समाप्त हो चुकी थी कि अचानक दोनो सम्राट् आमने-सामने हो गए। शत्रु को सामने देख कर प्रसन्नचन्द्र का क्रोध बरसाती नदी की तरह उबल पड़ा और वह शीघ्र ही शत्रु का काम तमाम करने के लिए हथियार खोजने लगे । और कोई शस्त्र तो हाथ लगा नही, उनका हाथ मुकुट को टटोलने के लिए और उसी के प्रहार से शत्रु को खत्म करने के लिए उठा ! पर ज्यो ही हाथ सिर पर आया तो सोचा—'अरे, यह क्या ? मुकुट कहाँ ? मैं तो मुण्डित सिर हू, मुनि हूँ ! कैसा शत्रु और कैसा सग्राम ? कहाँ से कहाँ पहुँच गया मैं ?' प्रसन्नचन्द्र की विचारधारा ने नया मोड़ खाया । अन्तस्ताप की अग्नि से उनके मन की कषाय-ग्रंथियाँ जलने लगी, पापपुञ्ज भस्म होने लगे और तभी तुम्हारा दूसरा प्रश्न मेरे सामने आया था । कुछ ही क्षणो मे राजर्षि

को शुभ परिणाम धारा शुद्ध धारा में बदल गई और उसने रागद्वेष रूपी कूड़े-करकट को धोकर साफ कर दिया। मुनि का अन्तर्मल साफ होते ही उन्हे कैवल्य प्राप्त हो गया। तभी तुम्हारा अन्तिम प्रश्न था। यह है मन की धाराओ का निदर्शन ! मन की धारा यदि ऊपर उठती है तो मनुष्य को स्वर्ग से ऊपर मोक्ष तक पहुचा देती है और मन की धारा नीचे गिरती है तो नरक के अधेरे कुएं मे भी गिरा देती है। इसलिए सारे संसार के उत्थान और पतन की कहानी मन की कहानी है।

मन का स्थान कहाँ ?

प्रश्न होता है कि जब मन इतना शक्तिशाली है और आत्मा को भी नचाने की शक्ति रखता है तो आखिर उसका स्थान कहाँ है, वह रहता कहाँ है और हमारे स्थूल शरीर मे वह कहाँ खडा है ? प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इसका उत्तर पाने के लिए हमे कई दृष्टियो से विचार करना होगा। यो ही अगर हम यह मान बैठेंगे कि मन को तो आत्मा भी वश मे नही कर सकता तो बड़ी भूल होगी।

मन मन्त्री है

बात यह है कि हमारे शरीर मे एक ओर तो हमारी आत्मा है और दूसरी ओर हमारा स्थूल शरीर तथा शरीर पर दीखने वाली इन्द्रियां हैं। आत्मा, शरीर और इन्द्रियो के बीच मे हमारा मन निवास कर रहा है। आत्मा तो आत्मा ही है। वह तो सर्वशक्तिमान है और अनन्त बली है, अपने आप मे ! किन्तु जब वह शरीर पर राज्य करने के लिए, जीवन-राज्य

का संचालन करने के लिए राजा बन जाता है और अपने को शरीर से सम्बद्ध कर लेता है, तब उसे अपना जीवन सुव्यवस्थित ढंग से चलाने और टिकाने के लिए मंत्री और अन्य सेवको की भी जरूरत होती है। इस दृष्टि से आत्मा रूपी राजा का मन मत्री है, सारा संचालन उसी के हाथों मे है, सारी व्यवस्था करना उसी पर निर्भर है, आत्मा तो बस बैठा-बैठा किसी भी कार्य की स्वीकृति-अस्वीकृति मात्र दे देता है, इसके सिवाय जीवन-राज्य का सारा कार्य मत्री पर अवलम्बित है। अगर मत्री ठीक है, विचारवान् रहता है, अच्छे ढग से कार्य करता है, सूझबूझ और नियत्रण की शक्ति रखता है तो राजा का कार्य व्यवस्थित चलता है। और अगर मत्री खराब हो जाता है, उसके विचार व्यवस्थित नही रहते है, वह अपने आप मे कोई सूझबूझ या नियंत्रण की शक्ति नही रखता है तो राजा का काम गड़बड हो जाता है। राजा अपनी इच्छानुसार राज्य का सचालन होते नही देख सकता है। और आखिर मन मत्री के झासे मे आकर आत्मा राजा भी चौपट हो जाता है, मानव-जीवन का राज्य खो बैठता है और इधर से उधर विविध योनियो मे भटकता है।

मन मंत्री के इशारे पर ही इन्द्रियाँ सेविका बन कर चलती हैं। मन ने जहाँ उन्हें रोक दिया, वही वे रुक जायेंगी और वह जिस प्रकार नचायेगा, नाचेंगी। क्योकि कहा भी है—

'इन्द्रियेभ्यः परं मनः'

अगर मन अपने आप में स्वस्थ और सुन्दर विचार करता है तो

इन्द्रियाँ भी सुव्यवस्थित रहेगी, जीवन की मधुरता का आनन्द मनुष्य प्राप्त कर सकेगा और अगर मन ही बुरे विचारों की गंदी नालियो मे बहने लगेगा, विपरीत दिशा का चिन्तन मनन करेगा तो इन्द्रियाँ भी विपरीत दिशा मे चलेगी, शरीर भी बर्बाद होगा और जीवन का सच्चा आनन्द मनुष्य को प्राप्त नही हो सकेगा।

हाँ, तो इस प्रकार मन का स्थान हमारे शरीर मे सर्वोपरि है। आत्मा अगर उस पर ठीक ढंग से अनुशासन रखे तो 'मन' उसे अभूतपूर्व ऊचाइयाँ प्राप्त करा सकता है।

मन का दर्शन या साक्षात्कार हमें चर्म-चक्षुओ से नही होने वाला है, दिव्य दृष्टि से ही मन का साक्षात्कार किया जा सकता है। कहा जाता है—बाह्य मन की क्रिया का कुछ कुछ भास या प्रतिच्छाया मनोविज्ञान-विशेषज्ञ फोटो लेकर पाने लगे हैं।

हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था कि स्थूल मन भी इन स्थूल नेत्रों से देखा नही जा सकता है। मन पर्यायज्ञानी पुरुष मन के मूर्त्त पर्यायो, मन की गतिविधि का अन्तर्दृष्टि से अवलोकन कर सकते हैं, साधारण ज्ञानी नही। हाँ, मनोविज्ञान शास्त्री अनुमान से मन की वृत्तियो का कुछ अदाजा लगा सकते हैं, मन की सारी हलचलो को वे सम्यक्तया नही जान सकते।

मन की परिभाषा भारतीय दार्शनिको ने यह की है—

'संकल्पविकल्पात्मकं मनः'

मन संकल्प-विकल्प रूप है

विचारो की उधेड़बुन करते रहना मन का स्वभाव है। मन का स्वभाव ही मनन करना है, इसीलिए उसे शरीर मे उचित स्थान पर नियुक्त किया गया है। 'मननात्मनः' मनन करने की वजह से ही मन कहा गया है। वह तो हर घड़ी कुछ न कुछ उछल-कूद मचाता ही रहता है, कभी शान्त होकर नही बैठ सकता। कुछ न कुछ खटपट, उखाड़-पछाड़ वह करता ही रहता है। यह तो उसका धर्म है, कर्त्तव्य है। आत्मा ने उसे मत्री बना कर मनन करने की ड्यूटी पर तैनात किया है। हम तो मानव की आत्मा से यही कहेंगे कि वह बड़ा भाग्यशाली है कि उसे मन जैसा शानदार, शक्तिशाली मत्री मिला है, वह सूनसान नही बैठा रहता है, उसके अन्दर बहुत बड़ी शक्ति काम कर रही है। अब यह बात तो आत्मा रूपी राजा पर निर्भर है कि मन रूपी मंत्री को अच्छा काम करने देता है या नही ? या बुरे काम करने से रोकता है या नही ? अगर वह अच्छी तरह से किसी भी अच्छे काम को उसके जिम्मे सौंप दे तो वह अपनी शक्ति का चमत्कार दिखाए बिना न रहेगा।

मन चंचल

मन चचल है। आधुनिक वैज्ञानिको ने भी मन की चचलता सिद्ध करदी है। विश्व मे सबसे अधिक चचल प्राणी बन्दर माना जाता है पर रात्रि में वह भी सो जाता है, अपनी हरकते बन्द कर देता है, किन्तु मन उससे भी अधिक चचल है, जो दिन रात दौड़ता रहता है, तन भले ही निद्रा मे एक स्थान पर पड़ा रहे किन्तु मन तो निद्रावस्था मे भी चक्कर लगाता रहता है। सस्कृत साहित्य मे दस मकारो को चचल माना है—मन, मधुकर, मेघ, मानिनी, मदन, मरुत्, मा-लक्ष्मी, मद, मर्कट, मत्स्य।

मनो मधुकरो मेघो, मानिनी मदनोमरुत्।
मा मदो मर्कटो मत्स्यो, मकाराः दश चंचला.॥

पर मन इन सभी मे प्रमुख है।

मन का वेग

आज तो चलचित्र का युग है। चलचित्र के दृश्य स्थिर नही रहते। एक चलचित्र आया, दो सेकिंड भी न हुए होगे कि दूसरा चलचित्र चित्रपट पर आ जाता है। मन की फिल्म मे भी अभी एक दृश्य चल रहा है, क्षण भर मे कोई दूसरा ही दृश्य उपस्थित हो जाता है। मन के वदलते हुए चल-

चित्रो को पकडना आसान काम नही है। मन का वेग विद्युत के वेग से भी तीव्र है, ऐरोप्लेन, राकेट और आपका यह नया उपग्रह भी इसे नही पकड सकता। अमेरिका के एक विद्वान् ने लिखा है कि प्रकाश की गति एक सेकेण्ड मे १,८६००० मील है, विद्युत का वेग एक सेकण्ड मे २,८८००० मील है, जब कि विचार की गति का प्रवाह, मन का वेग ४०००० से सत्तर नील मील तक होता है। विचार बिजली से भी अधिक वेग वाले हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से जैसे बिजली एक सेकण्ड में ७ बार पृथ्वी के आसपास घूम सकती है, परन्तु मन के विचारो की गति उससे भी तीव्र है, क्योकि विचारो के परमाणु बिजली से अति सूक्ष्म और बलवान होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मन की गति बड़ी ही तीव्र है। एक गुजराती कवि कहता है—

"अजब छे वेग आ मननो, गजब छे शक्ति पण भारी।
घणा ज्ञानी अने ध्यानी, गया मन शत्रुथी हारी॥"

मन को वश में करने की कला

हाँ, तो इतनी तीव्र गति और शक्ति वाले मन को अगर साधना चाहते हैं तो उसके लिए आपको क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न शायद आपके दिमाग मे घूमता होगा। बड़े-बड़े साधको को मन को वश मे करने का प्रश्न उलझन में डाले हुए है। आप लोग लक्ष्मी को वश मे करने का तरीका तो जानते होगे ! लक्ष्मी को वश मे करने के लिए आप गोदरेज की तिजोरी और उस पर मजबूत ताला लगा देते हैं, फिर भी

अगर आपको किसी खतरे का शक हो तो नीचे इलेक्ट्रिक वायर(तार) लगा देते हैं। पर मन को वश मे करना आप नही जानते।

अर्जुन और मन

धनुर्धारी वीर अर्जुन जिसके स्मरण मात्र से ही बड़े-बड़े वीरों के कलेजे कांप जाते थे, उसे भी कुरुक्षेत्र के मैदान मे मन की चपलता ने परास्त कर दिया। वह मन को वश में न कर सका और कातर स्वर में कर्मयोगी श्रीकृष्ण के सामने अपनी अन्तर्व्यथा प्रगट करता है—

"चंचलं हि मनः कृष्ण !, प्रमाथि बलवद् दृढम।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥"

योगीन्द्र कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल है, मन की बलवत्तर गति मानव के विचारो को मथ देने वाली है। हमारे जैसो के लिए उसका निग्रह मानो वायु को मुट्ठी मे बन्द करने की तरह दुष्कर है !

केशी, श्रमण और मन

हाँ, तो अर्जुन जैसे मन की शिकायत लेकर श्री कृष्ण के पास पहुंचा था, वैसे अनेको साधक मन की शिकायत लेकर हमारे पास पहुचते हैं। एक श्रमण सस्कृति के प्रतिनिधि सत केशी श्रमण भी गौतम स्वामी के सामने यह प्रश्न लेकर उपस्थित हुए—

मणो दुस्साहसिओ भीमो, दुट्ठसो परिधावइ।
जंसि गोयम आरूढो, कहं तेण ण हीरसि॥

— उत्तराध्ययनसूत्र ३/२३/५५

"हे गौतम ! यह बड़ा दु साहसी और भयकर दुष्ट मन रूपी घोड़ा चारो तरफ भागदौड़ करता है, आप भी इस पर चढे हुए हैं तो आपको यह उन्मार्ग की ओर क्यो नही ले जाता ? आपने इस घोड़े पर किस तरह से अधिकार कर लिया है, जरा वह उपाय मुझे बतलाइये !"

आनन्दघन और मन

योगीराज आनन्द घन भी मन की चालो को समझ गए थे। उन्होने भी अनुभव की शान पर चढी हुई वाणी में कहा—

'मैं जाएयु' ए लिंग नपुंसक, सकल मरद ने ठेले।
वीजी वाते समरथ छे नर, एहने कोइ य न झेले।
हो, कुंथुजिन, मनडु' किम ही न बाझे॥"

मैं समझता था कि यह (मन) तो नपुसक लिंग है, मर्दो के सामने इसकी क्या ताकत है ? परन्तु मेरी बात को इसने झूठा सिद्ध कर दिया। यह नपुंसक लिंगी (सस्कृत मे मन नपुसक लिंगी है) होते हुए ससार के सभी मर्दों को पीछे बिठाने वाला है। मनुष्य अन्य सभी बातो मे—युद्धो में, धनार्जन मे, विद्या में, पहलवानो मे—समर्थ है, परन्तु मन मातग को वश करने मे सभी नामर्द हैं। इसके साथ मोर्चा लेने मे समर्थ नही है। यह किसी भी तरह काबू मे नही आता है।

मन के गुलाम

रावण सारी दुनिया वश में करके लङ्का मे मौज से अकड कर रहता था, किसी को भी अपने से बढ़ कर पराक्रमी, धर्मात्मा, ईश्वरोपासक नही होने देता था, लेकिन मन पर

विजय नही पाने से रावण का सत्यानाश हुआ। सिकन्दर, दारा और नेपोलियन आदि वड़े-वड़े योद्धा जरूर थे, काफी देश भी जीते थे, किन्तु मन के ये सभी गुलाम थे। मन इनके भी वश मे नही था।

मन के वादशाह

इन सव वातों को सुन कर आप निराश न वनिए, हतोत्साह मत होइए। मन को वश में करना जितना कठिन है, उतना ही सरल है। चाहिए उसको वश मे करने की कला, मन के वशीकरण की साधना और मन की शक्तियो को सही दिशा मे लगाने की कुशलता। यह कुशलता, कला और साधना जिसके जीवन में होती है, वह मन का वादशाह वन सकता है। मन उस पर शासन नही कर सकता है।

बाहर की साख

हमे एक बात का तो पक्का विचार कर लेना चाहिए कि हम बाहर मे जो भी साधना करते हैं, गृहस्थ जीवन मे या साधु जीवन में, उसका मूल्य मन के साथ मेल खाने पर ही है। वाहर का अच्छा प्रदर्शन, वाह्य शान शौकत, बाहर की प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा मन की अच्छाई का प्रतिबिम्व नही है। अगर जीवन के अन्दर हम खोखले हैं, और केवल वाहर के हमारे आचार-विचार को देख कर, तपस्या के आडम्बरो का अवलोकन कर प्रशंसा के पुल बांधे जा रहे हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी अन्दर की सारी भूमिका कच्ची है। हमारा मन पवित्र नही है। अन्दर के सकल्प-विकल्प शुभ नही रहे हैं तो वाहर की साख अधिक दिन चलने वाली नही है।

जीवन की गाड़ी

सच्चा साधक वही है, जिसका अन्तरंग और बहिरंग दोनो समान भूमिका पर चलते हैं। अन्दर मे कूड़ा-कचरा भरा हो और बाहर से रग-रोगन करके 'ज्वेलरी हाउस' का बड़ा साइन बोर्ड लगा लें तो उससे अधिक दिनो तक दुनिया को धोखे मे नही डाला जा सकता। जीवन की गाड़ी के दोनो पहिये समान भाव से हरकत करते रहे, तभी गाडी ठीक ढग से काम कर सकती है, अन्यथा, अन्तर्जीवन का एक पहिया बहुत पीछे पडा रह जाय और दूसरा बाह्य जीवन का पहिया बहुत दूर तक चला जाए तो गाड़ी ठीक तरह से चल नही सकेगी।

हाँ, तो मन की साधना के विषय मे तरह तरह के विचार हैं। कुछ भ्रान्त विचार भी मन की साधना के बारे मे चल पडे हैं, जिनके कारण सामान्य साधक गडबडा जाते हैं और उन्हें सही रास्ता नही मिलता है।

हठयोग और मन

कुछ लोगो का कहना है कि, और उनमे विशेषत: हठयोगियो की राय है कि हठयोग से ही मन रुक सकता है, काबू में आ सकता है। हठयोग से मन को रोकने का मतलब है, मन जिधर जाता हो, चाहे वह अच्छाइयो की ओर भी भागता हो, उसे रोका जाय, उसकी हरकतें बिलकुल बन्द करदी जांय, उसकी गति को बढने देना ही ठीक नही है। किन्तु हठयोग से मन को रोकने का अर्थ हुआ किसी घोड़े को जबरदस्ती

बांधने की तरह मन को भी बांध देना। ऐसी दशा मे होगा यह कि जैसे जवर्दस्ती बंधा हुआ घोड़ा खुलते ही दौडने लगता है, वैसे ही जबर्दस्ती रोका हुआ मन खुलते ही तीव्र गति से भागने लगेगा। उसकी गति पहले से भी तीव्रतर हो जायगी। कई लोगो ने इस ढंग से मन को रोकने की कोशिश की, वे वर्षों तपस्या मे लीन रहे, कही इधर-उधर गए नही, एक ही जगह आसन मार कर बैठ गए किन्तु ज्यो ही वे वहा से उठे, थोड़ी सी हरकतें की कि मन इतना खुल कर भगा कि उनकी वर्षो की साधना को एक मिनट मे चौपट कर दिया। अक्सर, आज के गुरुकुलो मे कई जगह ऐसा अनुभव आया है कि जहां ब्रह्मचारियों के मन पर अत्यधिक कड़े प्रतिबन्ध लगाए गए, वहा गुरुकुल से छूटते ही उनका मन बीसो बुराइयो का शिकार हो गया, वह दिन-दूना रात-चौगुना तीव्र वेग से उन बुराइयों मे फंस गया, ऐसे ब्रह्मचारी स्नातकों मे से कई ने तो अपने भूतपूर्व अध्यापको से भी मन की अपनी दुर्दशा का वर्णन पत्र द्वारा किया है। सचमुच मन की साधना का यह उपाय अब नाकामयाब हो गया है।

स्थान परिवर्तन से मन नहीं बदलता

कुछ लोग इन्ही हठयोगियो की तरह मन को जबर्दस्ती मारना पसन्द करते हैं, उनका कहना है, मन ही इन्द्रियो का सचालक है, इसलिए इन्द्रिया इसकी आज्ञाएं विषयो मे भाग-दौड़ करती हैं। अत. आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियो को ही वन्द कर दिया जाय, रोक दिया जाय और निश्चेष्ट कर

दिया जाय तो मन अपने आप बैठा रहेगा। आख पर पट्टी बांधली जाय, कानो मे रूई का डाटा लगा दिया जाय, नाक के आगे भी कुछ न कुछ डाटा लगा दिया जाय, हाथो पैरों से बिलकुल काम न लिया जाय, जबान भी आहार न देने के कारण बन्द रहेगी, मुह को भी सी लिया जाय तो बोलना नही हो सकेगा। इस प्रकार मन स्थिर हो ही जायगा, नही तो जायगा कहाँ ? इस प्रकार के प्रयत्न वास्तव मे बाल चेष्टाएँ हैं, ऐसा करने मे मन के मूल स्वभाव मे कोई अन्तर नही आता। वह तो अपना काम करता ही रहता है। चाहे उसे आप जगल मे बिठा दे, चाहे श्मशान मे या धर्म-स्थान में। स्थान बदलने से मन नही बदलता है। स्थान परिवर्तन का असर मन पर नही पडा करता। हमारे यहाँ एक पुरानी कहानी कही जाती है। दो मित्र थे। उनमे गाढ़ प्रेम था। एक के बिना दूसरा रह नही सकता था। एक दिन शहर मे वेश्या की महफिल लगने वाली थी। एक मित्र ने कहा—"दोस्त, आज तो मै वेश्या की महफिल मे जाऊगा, वहाँ सुदर-सुदर सगीत सुनूंगा और मनोहारी नृत्य एवं वेश्या के हाव-भावो को देखूगा, जिससे मन प्रसन्न हो जायगा। तुम भी चलोगे ?" दूसरे मित्र ने कहा—"मैं तो वहां नही जाऊगा। मुझे वेश्या की महफिल मे रुचि नही है। अपने नगर मे एक प्रसिद्ध वक्ता मुनिराज पधारे हुए हैं उनका प्रवचन सुनने जाऊँगा। प्रवचन ऐसा सरस होगा कि सारी थकावट और अशाति दूर कर देगा।" दोनो मित्र पृथक्-पृथक् अपने-अपने मनोनीत स्थानो पर पहुँच गये। वेश्या के यहाँ जाने वाले मित्र

का मन वेश्या के कृत्रिम सौन्दर्य, बनावटी चाल-ढाल की ओर आकर्षित करने के लिए किये जाते हुए हाव-भाव व चेष्टाएं देख कर घबराने लगा। उसने सोचा—"मैं कहाँ आ फँसा? मेरा मित्र तो मुनिराज का सरस व्याख्यान सुनता होगा, जहाँ निश्छल, नि स्पृह, वैराग्य से भरे हुए पवित्र शब्द आते होगे। अच्छा होता, मैं भी वही जाता।" किन्तु सन्त का प्रवचन सुनने वाला मित्र कुछ और ही विचार कर रहा था। वह सोचता था—"यहाँ तो कुछ भी सरसता नही है। न कोई सगीत है, न नृत्य है, न वाद्य ही है, केवल मुंह से त्याग-वैराग्य की बातें कहे जा रहे हैं। मन बडा बेचैन हो रहा था, मेरा मित्र तो वेश्या के यहाँ सुन्दर सगीत, नृत्य, वाद्य और हाव-भाव की बहार मे मस्त होकर आनन्द ले रहा होगा। अच्छा होता मै भी उसी के साथ वैश्या के यहाँ चला जाता।" दोनों ही मित्र दो तरह के वातावरण वाले स्थानो मे वैठे हुए थे, लेकिन दोनो के मन मे विचार-लहरियाँ स्थान विशेष होने पर भी विपरीत थी। एक धर्म-स्थान मे बैठा हुआ भी अपने मन को अधर्म स्थान की ओर ले जा रहा था और दूसरा अधर्म-स्थान मे बैठा हुआ भी अपने मन को धर्म-स्थान की ओर दौड़ा रहा था।

हाँ, तो स्थान बदल कर मन बदलने का, या मन को एक जगह रोक देने या निश्चेष्ट बना लेने का तरीका किसी भी हालत मे बेहतर नही है। सिंह को पिंजरे मे डालने से उसकी हिंसा वृत्ति छूट जाती है? क्या वह अपना शिकार करने का स्वभाव छोड़ देता है? हम सब जानते हैं कि नही छोड़ता।

तो मन को भी आप गठरी बांध कर एक जगह रख सकेंगे या उसका स्वभाव स्थान बदल कर बदल सकेंगे ?

मन नहीं लगता

कुछ लोग कहा करते हैं कि "हमारा मन यहाँ नही लगता, दूसरी जगह जा कर लगायेंगे ।" उनसे पूछो कि "आपका मन आपसे अलग कब हुआ था, सो आप अपने मन को लगाना चाहते हैं ? वह तो जन्म से ही आपके साथ लगा-लगाया है ।" मन को कही वस्तुओ मे या स्थानो में लगाने की जो लोग सोचा करते हैं, वे मन की रुचि को विकृत बना डालते हैं, मन के स्वभाव को बिगाड़ डालते हैं । मन का स्वभाव मनन करने का है, उसे आप वस्तुओ में या स्थानो मे लगा कर उसके मनन-स्वभाव को माजते नही, परिष्कृत नही करते, बल्कि भटकाते हैं । जैसे कोई यात्री अपना एकमात्र देशाटन करने का लक्ष्य बना कर घूमता है, उसे बीच मे ही कोई व्यक्ति व्यापार मे लगा दे या उसको चोरी-डकैती आदि करना सिखा कर उसमें तल्लीन कर दे तो यह यात्री का गुमराह होना है, भटकना है, लक्ष्यभ्रष्ट होना है । उसी तरह मन रूपी यात्री को अगर हम मनन करने के स्वभाव से भटका कर विविध वस्तुओं या स्थानों में उलझा दें तो वह भी लक्ष्यभ्रष्ट हो कर गुमराह हो जायगा ।

मन का स्वभाव

संकल्प-विकल्प करना, मनन करना तो मन का स्वभाव है । ऐसा नही हो सकता कि आप मन को सूना बना दें,

उसे मार दे, समाप्त कर दे, वह अपना काम बन्द कर दे। वह काम तो करता ही रहेगा, निष्क्रिय नहीं बैठा रहेगा। अगर मन को आप अच्छे कार्यों की ओर नही मोड़ेंगे, अच्छी दिशा मे उसकी हरकतों को नही ले जायेंगे तो खाली बैठा वह खुराफात ही मचायेगा। एक अंग्रेजी कहावत भी है—

'Empty mind is devil's workshop.'

'खाली मन पिशाच का कारखाना है।'

यह तो आपका काम है कि मन को आप हरदम अच्छे विचारो मे लगाए रक्खे, नही तो वह बुरे विचारो मे तो दौड़ेगा ही, जो आपके जीवन मे शैतानी पैदा करेंगे। गुजराती मे एक कहावत है–'नवरो बेठो नखोद वाळे' यानी खाली बैठा हुआ मन उत्पात मचाता है।

यक्ष और सेठ

एक सेठ था। उसने एक सिद्ध पुरुष की खूब सेवा की। उसकी सेवा से सिद्ध पुरुष ने प्रसन्न हो कर कहा कि "जो तेरी इच्छा हो सो वर मांग ले।" उसने कहा–"महाराज, मुझे एक ऐसा नौकर दीजिए जो मेरे कहे अनुसार काम कर दे।" सिद्ध पुरुष बोला–"ऐसा नौकर तुझे मिल जायेगा, लेकिन उसे हरदम काम बताते रहना होगा, अगर काम नही बताया और खाली बैठाये रखा तो वह तुम्हें खा जायेगा।" सेठ बोला–"महाराज, काम तो मेरे यहा बहुत-से हैं, वह जितना चाहे, करे।" आखिर सिद्ध पुरुष की कृपा से उसे एक यक्ष सेवा में मिल गया और वह किसी भी काम को सेठ

के आदेश पाते ही चुटकी मे ही कर देता। अब सेठ काम वताते-बताते हैरान हो गया। उसका तो यह हाल था कि इधर से आज्ञा मिली नही कि काम किया नही। सेठ को काम वताने की चिन्ता लगी। रात को भी काम बताने के मारे नीद हराम हो गई। काम नही बताया तो यह मुझे खा जायेगा, यह चिन्ता भी कम न थी। आखिरकार सेठ परेशान हो कर उसे साथ मे ले, सिद्ध पुरुष के पास लाया और गिड़गिडा कर कहने लगा–"महाराज, संभालो इसे, मैं तो एक ही दिन मे काम वताते-बताते मर गया, इसने तो मेरे नाक में दम कर दिया। रात और दिन इतना काम कहा से बताऊं ?" सिद्ध पुरुष मुस्कुरा कर कहने लगे–"मैंने तुम्हे पहले ही कहा था, इसे हर समय काम बताना होगा, नही तो यह तुम्हें खा जायगा।" सेठ बोला–"महाराज, अब क्या हो ? कैसे करू, जिससे इसे काम मिलता रहे।" सिद्ध पुरुष ने कहा–"देखो एक उपाय है। वह यह कि तुम अपने घर के चौक मे एक खम्भा गड़वा दो और जब दूसरा काम हो तो यह दूसरा काम किया करे, दूसरा काम न हो तो इसे उसी खम्भे पर उतरने चढने का काम बता दिया करो।" सेठ बोला–"जी हां, बड़ी कृपा की। अच्छा उपाय बताया, महाराज ! अब तो मैं सब ठीक कर लूगा।" सेठ घर गया, साथ ही उस यक्ष सेवक को भी ले गया, और उससे घर के आगन मे खम्भा गड़वा कर सदा के लिए यह हिदायत दे दी कि मैं दूसरे काम बताऊ तो दूसरे काम किया करो, दूसरे काम न हों तो इस खम्भे पर ही उतरा-चढ़ा करो, यही तुम्हारे लिए हमेशा का काम है।"

यक्ष समझ गया था। अब तो वह सेठ को भी हैरान नही करता था और उसका वशवर्ती बन गया था।

हां, तो मन भी उस यक्ष की तरह है। यह भी काम मागता है, अगर इसे काम नही मिलेगा तो उखाड़-पछाड़ कर के एक ही दिन मे आपको बर्बाद कर देगा।

शुभ विचार

इस रूप मे मन का काम संकल्प-विकल्प करना है, आप उसे बन्द नही कर सकते। पर जब सकल्प दूषित होने लगें, अशुद्ध संकल्प आने लगें तो आपकी आत्मा का काम उसकी निगरानी या पहरेदारी करने का है। वह मन की वृत्तियो का अध्यक्ष है, जीवन की हलचलो का सुपरवाइजर है। वह नीद लेता रहेगा, गफलत मे रहेगा, चौकसी नही रखेगा तो मन गडबड़ मचा देगा, वातावरण कलुषित कर देगा। इसलिए अध्यक्ष के रूप में आपकी आत्मा का कर्त्तव्य है कि जिस समय भी अशुभ भावना, अशुभ विचार या अशुद्ध सकल्प आने लगें, उन्हे दुत्कार कर निकाल दें और उसकी जगह शुभ भावनाओ, विचारो को जगह दे।

मन उद्यान है

अँग्रेजी के महाकवि शेक्सपियर ने कहा है—

"मन एक उद्यान है, जिसमे आप चाहें तो सुन्दर पुष्प विकसित करें और चाहे तो उसे उजाड़ पड़ा रहने दे। यदि उसमे अच्छे-अच्छे विचार-बीज नहीं डाले जायेंगे तो बहुत-से निकम्मे बीज अपने आप गिर जायेंगे और जंगली घास पैदा

कर देंगे। वाग के माली की भांति आप उसमें सद्विचार रूपी पोधा लगाइए। तथा बुरे और निकम्मे विचारों को निकाल फेंकिए।"

अगर आप अपने आप मे सुन्दर विचारों का स्वाध्याय करते हैं, चिन्तन-मनन करते हे, सुन्दर प्रवचन सुनते हैं, प्रभु के साथ अपने जीवन का ताल्लुक जोड़ते हैं तो आपके मन मे सुन्दर विचारो के बीज पड़ेंगे और वे अच्छे कार्य रूपी पौधे की नीव डालेंगे। श्रमण-सस्कृति के प्रतिनिधि केशी श्रमण से गौतम स्वामी ने मन की साधना के बारे मे यही बात कही है—

पहावंतं निगिएहामि सूयरस्सी समाहियं।
न मे गच्छइ उमग्गं, मग्गं च पडिवज्जइ॥
मणो साहसिओ भीमो दुट्ठसो परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिएहामि धम्म सिक्खाइ कंथगं॥

उत्तरा. अ.

अर्थात् 'दौड़ते हुए मन रूपी घोड़े को मैं शास्त्र ज्ञान रूपी लगाम से रोकता हू, जिससे वह कुमार्ग की ओर मुझे नही ले जाता, सन्मार्ग पर ही गमन करता है। वास्तव मे मन बडा साहसी, खतरनाक और दुष्ट घोड़ा है, किन्तु मैंने उसे धर्म-शिक्षा के चाबुक से अच्छी तरह वशवर्ती बना लिया है।"

मन घोड़ा है

मन एक घोड़ा है, बड़ा तेज तर्रार! अगर किसी के पास घोडा हो और वह खूब भाग-दौड़ करता हो, काबू मे नही आता हो तो क्या वह उसे मार-मार कर काबू मे ला सकता

है ? अगर वह ऐसे घोडे को मार कर उसका कचूमर ही निकाल देगा तो फिर उस पर सवारी क्या खाक करेगा ? घोड़े को मारने से वह कभी काबू मे नही आता है। उसको साधने से, अश्व-चालन शिक्षा देने से ही वह ठोक ढग से गति कर सकता है, काबू मे आ सकता है। इसी प्रकार मन रूपी घोड़े को भी आप मारते हैं, उसको ठोक-पीट कर रखते हैं। फिर भी वह दौड़ा जाता है, तो आपको वह बीच में कही पटक देगा, ऊबड़खाबड़ स्थान मे। आप इस प्रकार मन को मार कर काबू मे नही कर सकेंगे। मन को तो साधना चाहिए, तभी वह ठीक ढंग से गति करेगा, अच्छे कार्यों की नीव डालेगा।

मन की साधना

मन की साधना के लिए सर्वप्रथम आपको उसकी शक्ति को केन्द्रित करने का अभ्यास करना होगा। मन मे जो अपार शक्ति है उसे इधर-उधर विखेर देने से मन की साधना नही होती। विखरी हुई शक्ति विखरी हुई किरणे हैं। यदि किरणो मे तेज लाना हो तो उन्हें आईग्लास मे एकत्रित करना पड़ता है। सूर्य की विखरी हुई सहस्र किरणें एक चिनगारी प्रगट करने का काम नही कर सकती, किन्तु जब वे ही किरणें आइ-ग्लास मे केन्द्रित होती हैं तो चिनगारी फूट निकलती है। यही बात मन की साधना के सम्बन्ध मे है। आप उसकी शक्ति को केन्द्रित करे। योगियो ने योग का अर्थ ही मन को, चित्तवृत्ति को दूसरी सब जगहो से हटा कर परमात्मा या शुद्ध आत्मा मे जोड़ देना बतलाया है। यह मन की शक्ति को परमात्मा मे

केन्द्रित करना ही तो है ! जब मन अपनी शुद्ध आत्मा या परमात्मा मे लीन हो जाता है तो उसकी वृत्तियाँ बिखरती नही। यह मन की वास्तविक साधना है।

एकाग्रता

शक्ति को बिखेरना असफलता को न्यौता देना है। मन की शक्तियों को एकाग्र करके ही आप बडे से बडे कार्य कर सकते हैं; किन्तु शक्ति के बिखर जाने पर आप किसी भी काम मे पूरी सफलता नही पा सकते। आपका मन स्थिर नही रह सकेगा—किसी एक ही चीज मे। वह भटकता रहेगा। उसे कही शान्ति और तृप्ति नही मिलेगी।

डॉ एस. डी कॉलरिज मे गजब की प्रतिभा थी। वह माना हुआ साहित्यकार था, अपने जमाने का। किन्तु, उसके सामने हमेशा एक नया निश्चय या नया विचार खड़ा हो जाता। वह अपने मन को किसी एक मे स्थिर नही रख पाता था। फल यह हुआ कि जब वह इस संसार से बिदा हुआ तो उसकी फाइलो मे ४० हजार निबन्ध निकले, किन्तु दुर्भाग्य से वे सब अधूरे थे। उनमे से एक भी निबन्ध पूरा नही था, क्योकि मनः-शक्ति पर उनका कँट्रोल नही था। वे जब लिखने बैठते तो उनके मन मे कोई न कोई दूसरा विचार आता कि वे उस ओर चल पड़ते। वह निबन्ध वही पड़ा रह जाता और नया निबन्ध लिखने को कलम दौड़ जाती थी। इस प्रकार वे ४० हजार निबन्ध भी अस्थिरता मे लिखे गये थे।

मन की स्थिरता

जहां मन की स्थिरता नही होती, शक्तिया बिखर जाती

हैं, वहां चचलता के कारण किसी भी काम मे कामयाबी नही होती। एक किसान ने अपने खेत मे एक कुआ खोदा। पच्चीस हाथ तक खोदने पर भी जब पानी न निकला तो उसका विचार पलटा कि चलो, यहा तो पानी नही है, दूसरी जगह खोदे। दूसरी जगह भी जो गड्ढा खोदा, वह पच्चीस हाथ तक पहुचा पर वहा भी पानी न मिला। कुछ फासले पर अब उसने तीसरा कुआ खोदना शुरू किया, उसे भी पच्चीस हाथ खोद कर छोड दिया। चौथे स्थल पर पच्चीस हाथ गहरा खोदने पर भी सफलता न मिली। अगर वह पच्चीस-पच्चीस हाथ के चार कुएं न खोद कर एक ही स्थान पर सौ हाथ गहरा खोदता तो उसे पानी अवश्य मिल जाता। पर उसकी मानसिक चंचलता ने उसे ऐसा नही करने दिया। मन की चचलता ही असफलता की जड़ है।

मन बालक है

मन एक नटखट बालक की तरह है, उसे किसी अच्छे काम मे केन्द्रित नही किया तो वह अनेक बुरे कार्यों मे दौड़ लगायेगा। किसी बालक को एक कुल्हाड़ी मिल गई। अब क्या था ? बालक ही जो ठहरा ! उसने अपनी चपलता के कारण घर मे रक्खी हुई मेज और कुर्सियों को तोड़ना प्रारम्भ किया। उसकी मां और पिताजी हैरान हो गए। कहने लगे—"कैसा नालायक है। कबख्त, कुल्हाड़ी से घर की चीजे तोडता है !" वे उसे मारने-पीटने पर उतारू हो गए। उसके हाथ से कुल्हाडी छीनने लगे। पर बालक उल्टा ज्यादा

खुराफात मचाने लगा। किसी मनोवैज्ञानिक ने उसके माता-पिता से कहा—"आप लोग उसकी कार्य करने की दिशा बदल दे। उसके हाथ से कुल्हाड़ी न छीन कर प्रेम से उसे लकडी छीलने को दे दे तो वह फिर आपकी मेज कुर्सिया नही तोडेगा।" उन्होने ऐसा ही किया। बालक अब लकड़ी छील रहा था; वहुत सुन्दर ढग से और अपनी शक्ति का परिचय दे रहा था। माता-पिता को अब भी सदेह था कि कही यह अपने पैर पर न मार बैठे। परन्तु बालक ने वैसा कुछ भी नही किया। अन्त मे वह सब लकडिया छील कर ही रुका। हा, तो मन भी उस नटखट बालक की तरह है, उसके हाथ मे संकल्प-विकल्प की कुल्हाडी है। अगर विषयवासना रूपी फर्नीचर उसके सामने है तो आप कितना भी चिल्लाएँ वह मानेगा नही, तोड-फोड कर रहेगा। किन्तु आप प्रेम से अच्छे विचारो की ओर उसे लगा देंगे तो वह अच्छे विचारो मे ही रमण करेगा।

अभ्यास और वैराग्य

परन्तु केवल एक ही दिन के अभ्यास से यह कार्य नही हो जायेगा, एक ही दिन मे मन की विकेन्द्रित शक्ति को आप बुरे विचारो से हटा कर सद्विचारो की ओर नही लगा सकेंगे। उसके लिए दीर्घ काल की साधना अपेक्षित है। योगदर्शन मे यही बात महर्षि पतञ्जलि ने कही है—

"स तु दीर्घतरनैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढभूमिः"

"अभ्यास दृढ और परिपक्व, दीर्घ काल तक, निरन्तर श्रद्धा

और सत्कार के साथ किये जाने पर ही होता है।" योगदर्शन मे मनोनिग्रह के लिए कहा है—

"अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः"

"मन का निरोध या चित्तवृत्तियो का निग्रह अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही होता है।"

कर्मयोगी श्री कृष्ण ने भी अर्जुन को यही उत्तर दिया है—

"अभ्यासेन तु कौन्तेये ! वैराग्येण च गृह्यते।"

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! अभ्यास और वैराग्य से ही मन का निग्रह किया जा सकता है, मन पर संयम किया जा सकता है। अभ्यास के सम्बन्ध मे विभिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न विचार होते हुए भी उनका लक्ष्य और उनका निशाना एक ही ओर है।

मनोनिग्रह का उपाय

एक बार सम्राट् सेन करुणावतार महात्मा बुद्ध की सेवा मे पहुचे और उनसे मनोनिग्रह का उपाय पूछा। उन्होने कहा कि—"मैं राजा हू। मुझे साधना के लिए इतना अवकाश नही कि मैं प्रतिदिन होने वाले प्रवृत्ति मार्ग से बिल्कुल हट कर निवृत्ति मार्ग को अपना सकूं; क्योकि मुझ पर राज्य-सचालन का उत्तरदायित्व है। मुझे तो ऐसी साधना बतायें आप जिससे राज्य का दायित्व निभाते हुए मन की निरंकुशता और अनेकाग्रता को दूर किया जा सके।"

आप भी शायद ऐसा ही चाहते होगे कि घर भी न छोड़ना

पड़े, ऑफिस भी अच्छी तरह चलता रहे, दूकान का काम भी करते चले जाय और मन को भी साधते चलें।

महात्मा बुद्ध ने शान्त वाणी मे कहा—"सम्राट्, ऐसी भी साधना है जिसके द्वारा मनुष्य अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए भी मन पर विजय पा सकता है, मनोनिरोध कर सकता है। वह है चार प्रकार का मनन—(१) मैं जराधर्मी हू, (२) मैं वियोगधर्मी हू, (३) मैं रोगधर्मी हू, और (४) मैं मरणधर्मी हू। अगर मन का मनन इन चारो बातों पर चलता रहे तो वह उस पर काबू पा सकता है।"

हां, तो आप समझ ही गये होगे, इन चारो बातों को। इस समय इन चारो बातो पर विशद् रूप से विवेचन करने का अवकाश नही है। फिर भी उपर्युक्त कहानी मे मन को सही दिशा मे मोडने का सुन्दर उपाय बतलाया है और यह उपाय गीता और योगदर्शन द्वारा निर्दिष्ट वैराग्य के अन्तर्गत आ जाता है।

जैन धर्म के आचार्यो ने प्राथमिक मनःसाधना के लिए आनुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी एव अनानुपूर्वी के द्वारा परमेष्टिस्मरण का उपाय बतलाया है, जिसे आप जानते ही हैं। यह भी मन को केन्द्रित करने का एक उपाय है। किन्तु उच्च साधक के लिए तो मनोनिरोध मन की शक्ति को सही दिशा मे, वैराग्य की दिशा मे लगाना और उसका भी सतत् अभ्यास करना ही श्रेष्ठ उपाय है।

आप वैराग्य का नाम सुन कर चौंक पड़े होगे कि कही

साधु तो नही बनना पडेगा ! सचमुच, आज वैराग्य शब्द को साधुओ के लिए रिजर्व करके साधारण विचारकों ने बहुत वडी भूल की है। वैराग्य केवल साधुओ के लिए ही नही है, किन्तु वह प्रत्येक साधक के लिए है, फिर वह चाहे साधु हो या गृहस्थ। क्या साधु को ही भूख लगती है, गृहस्थ को नही ? जब भूख दोनो को लगती है तो जीवन-निर्माण की भूख भी दोनों को लगनी चाहिए। साधु के चोट लगने पर साधु भी मरहमपट्टी करता है, वैसे ही गृहस्थ भी करता है। तब फिर आध्यात्मिक चोट केवल अकेले साधु के ही क्यो, गृहस्थ के भी तो लगती है, और उसकी मरहमपट्टी गृहस्थ को भी करनी चाहिए।

साधना का अभ्यास

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि गृहस्थ हो या साधु, मनः-साधना का अभ्यास दोनो को ही करना है, अपने-अपने उत्तर-दायित्व निभाते हुए, अपनी-अपनी मर्यादा मे प्रवृत्ति करते हुए। हमारे शरीर की गति के साथ-साथ मन भी तो गति करता है, वह भी साथ हो चलता है, अकेला शरीर कही किसी भी जगह नही जाता। तो शरीर के साथ मन को भी मांजना है, परिष्कृत करना है, शुद्ध करना है ताकि वह सुन्दर विचारों द्वारा जीवन-उद्यान को हराभरा कर सके।

तन और मन

किन्तु आज जितना ध्यान आप शरीर की ओर देते हैं, उतना मन की ओर नही देते। शरीर बीमार पड़ेगा तो डॉक्टरो

और वैद्यों के दरवाजे खटखटायेंगे। इजेक्शन और दवाइयां ले कर आप तन्दुरुस्ती पाने का प्रयत्न करेंगे, लेकिन मन की स्वस्थता की आपको कोई चिन्ता नहीं है। आपका मन कितना सड गया है, उसमें कितनी गदगी भर गई है, इसका विचार और उसे स्वस्थ एवं शुद्ध करने के बारे मे आप सोचना तक नहीं चाहते हैं।

पर स्मरण रखिए, आपकी आत्मा ठीक है या बुरी है, उसका प्रतिबिम्ब आपका मन है, शरीर नही। शरीर के स्वास्थ्य से आत्मा का मूल्यांकन नही किया जा सकता। मन का चिन्तन-मनन ठीक नही है, दुःसंकल्प चलते रहते हैं तो बाहर से आप भले ही कह दें, हमारी आत्मा पवित्र है पर उस पर मन के छाये हुए आवरण के कारण वह असल मे पवित्र नही है।

मन के खम्भे

आजकल लोग बाह्य-प्रदर्शन को बहुत महत्व देते हैं, आडम्बर के आंगन मे आत्मा का पटमण्डप खड़ा कर देते हैं, लेकिन उसमे अगर मन के खम्भे मजबूत नही हैं तो एक ही वासना रूपी आंधी के झोंके से वह मण्डप उखड़ जायगा।

किसी व्यक्ति ने एक राजा से कहा कि आजकल रोमन और चीनी अच्छे चित्रकार हैं। उन दोनो के चातुर्य की तुलना करने की गरज से एक दीवार चीनी कलाकारों को और ठीक उसी के सामने वाली दीवार रोमन कलाकारो को दी और अपनी-अपनी कला का नैपुण्य दिखाने को कहा। दोनो दीवारो

के वीच पर्दा डाल दिया गया। रोमन कलाकारो ने तरह-तरह के रग एकत्रित किए और लगे एक से एक वढ कर सुन्दर चित्र बनाने। लेकिन चीनी कलाकारो ने न कोई रग जुटाया और न कोई चित्र बनाया। केवल दीवारों को घोटते, मांजते, और पालिश करते रहे। जब दोनो ने अपना-अपना कार्य पूरा कर लिया तो उनकी चित्रकला का निरीक्षण करने के लिए राजा को बुलाया गया। रोमन लोगो की सुन्दर चित्रकला देख कर राजा बहुत खुश हुआ और फिर चीनी लोगो की दीवार की ओर मुड़ा, जिस पर कोई रग इस्तेमाल नही किया गया था। राजा ने साश्चर्य पूछा—"चित्रकला कहा है?" चीनियो ने तुरत बीच का पर्दा हटा दिया और रोमन चित्रकला की सारी सुन्दरता की परछांई उस चीनी दीवार पर पड़ी। इतना ही नही, चीनी कलाकारो ने ऐसी अद्भुत पालिश दीवार पर की थी कि परछांई असली तस्वीर से भी कही अधिक खूबसूरत लगी। उसकी जगमगाहट के सामने रोमन तस्वीर फीकी पड़ गई। राजा देख कर दंग हो गया और घटो उस दीवार को देखता रहा।

हा, तो इसी प्रकार अगर हम शरीर को रग-रोगन, पाउडर, क्रीम आदि से सजाने और चित्रित करने के बदले आत्मा रूपी दीवार पर मन को शुद्ध, परिष्कृत और Polished करते हैं तो सारे संसार की आध्यात्मिक सुन्दरता हमारी आत्मा मे चित्रित हो जायगी; प्रतिबिम्बित हो जायगी। हमे बाह्य सौन्दर्य-प्रसाधन की और आडम्बरो की जरूरत ही न रहेगी। योगीश्वर आनन्दघनजी ने यही तो कहा है

मन साध्युं ते ने सघलुं साध्युं, एह बात नहीं खोटी।
एम कहे साध्युं, ते नवि मानुं, एक हि बात छे मोटी हो ॥

कु० थु०

जिसने मन को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया। 'जितं जगत् केन ?, मनो हि येन' 'जगत् को किसने जीता है ? जिसने मन को जीत लिया उसी ने' यह बात भी अक्षरशः सत्य है।

मन को साधने के लिए अभ्यास और वैराग्य द्वारा आसक्ति पर प्रहार कीजिए, मन पर मलिनता की जो तह जम गई है, मल, विक्षेप, रागद्वेष आदि कई दोषो की काई जम गई है, उसे दूर कीजिए। मन को शुभ विचारों मे रमाने के लिए उसे एकाग्र कीजिए, अपनी चित्त-वृत्तियो को स्थिर कीजिए। स्थिर पानी मे जो प्रतिबिम्ब पडता है, वह साफ दिखाई देता है, हिलते हुए पानी मे नही। इसी प्रकार स्थिर मन मे ही जगत् के शुद्ध विचारो का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। मन को बुरे विचारो से हटा कर अपने जीवन के उद्देश्य मे, ध्येय मे जोड देना ही योग है, चित्तवृत्ति-निरोध है। विशालकाय हाथी को भी छोटा-सा अकुश वश मे कर सकता है तो क्या ज्ञान का अकुश मन को वश मे नही कर सकेगा।

हा, तो आप निश्चिन्तता से मन के दीपक मे श्रद्धा की बत्ती और सद्विचारो का तेल डाल कर उसे जलाइए और प्रति क्षण यह देखते रहिए कि कही वासना की वायु का झोका उसे बुझा न दे। बस, यही सावधानी आपको रखनी है। मन के वश होने की निशानी ही यही है कि वह वासना के झोके

से बुझे नहीं, सतत् प्रकाशमान रहे। पर इसके लिए निरंतर साधना की आवश्यकता है। निरतर आप साधना चालू रखें, फिर मन आपका स्वामी न होगा, आप मन के स्वामी होंगे और सफलता आपके साथ होगी।

प्राणी की चाह

ससार के रग-मच पर जन्म और मृत्यु का चक्र अनादि काल से चला आ रहा है, इसे बदलना सर्वसाधारण प्राणी के लिए असम्भव है। जन्म और मृत्यु के अवश्यम्भावी होने पर भी साधारण मनुष्य जन्म के समय जितनी मिठास का अनुभव करता है, मृत्यु के समय उतनी ही कटुता का। जन्म उसे बहुत सुहावना और प्रिय लगता है, जब कि मरण अप्रिय और दु.खद लगता है। जन्म के समय जो हसी-खुशी होती है, मरण के समय वह शोक और उदासी में परिणत हो जाती है। जन्म मित्र के समान प्रतीत होता है तो मरण शत्रु के तुल्य। जन्म का जितने हर्ष के साथ सत्कार किया जाता है, मृत्यु का उतने ही दु ख के साथ तिरस्कार किया जाता है। भयकर से भयंकर रोग से ग्रस्त, असह्य दु ख से पीडित, महान् विपत्तियों से घिरा हुआ, असहाय से असहाय व्यक्ति भी मृत्यु नही चाहता, मृत्यु के नाम तक को पसद नही करता। चाहे कितने ही रोग, शोक, वियोग या अपमान की प्रताड़ना सहनी पड़े, कोई भी व्यक्ति यह नही चाहेगा कि मैं शीघ्र ही मर जाऊ। भगवान् महावीर ने यही बात अपने अनुभवों की कसौटी पर परख कर कही है—

"सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउ"

सभी प्राणी जीना चाहते हैं, जिन्दा रहना चाहते हैं, मरना कोई भी नही चाहता।

मृत्यु अवश्यम्भावी

सबको अमरता प्रिय है, मृत्यु के मुख मे कोई नही जाना चाहता। मृत्यु से बचने के लिए वह और सब कुछ कष्ट उठा लेगा, सारा घर फूक देगा, भीख मांग कर जिन्दगी बिता लेगा, अपमान और तिरस्कार के कड़वे प्याले पी कर जीवन व्यतीत कर लेगा, मृत्युञ्जय और महा-मृत्युञ्जय के पाठ करा लेगा, ग्रहशान्तिस्तोत्र पढ़ा कर शान्ति कराने का प्रयत्न करेगा, कडवी से कडवी दवा पी लेगा, कठोर से कठोर साधना करने को तैयार हो जायगा, मृत्यु निकटवर्ती है, यह मालूम पड़ने पर उसका खाना-पीना हराम हो जायगा, नीद उड़ जायगी, वह पागल सा बना फिरेगा और जो कुछ कहो करने को तैयार हो जायगा, परन्तु उसे चाहिए सुरक्षा की गारंटी, मौत से बचाव का उपाय। परन्तु हम देखते हैं कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। वह जब आती है तो मन्त्रबल, यन्त्रबल, तन्त्र-बल, जनबल, धनबल और अस्त्रबल सभी बेकार हो जाते हैं। किसी का उसके सामने बस नही चलता। सभी निरुपाय हो जाते हैं। कहावत भी है—

'काल वेताल की धाक तिहुं लोक में'

मृत्यु का भय

मृत्यु का साक्षात् दर्शन तो दूर रहा, मृत्यु का नाम सुनते

ही मनुष्य के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मृत्यु का भय भी मनुष्य को चौंका देने वाला बन जाता है।

पुराण मे आलंकारिक भाषा मे मृत्यु-भय के विषय में एक सुन्दर कथा का निरूपण किया गया है—

एक बार यमराज ने अपने दूतो को बुला कर कहा कि मुझे ४०० मृत प्राणियो की आवश्यकता है, मृत्युलोक में जाकर शीघ्र ले आओ। दूत आदेश पाते ही ४०० मनुष्यो को मारने के लिए व्याधियो आदि के सहारक अस्त्रशस्त्र लेकर मर्त्यलोक मे पहुंचे। उनका कार्य शीघ्र ही सफल हुआ और वे ४०० के बदले आठ सौ मृत प्राणियो को लेकर पहुचे। यमराज ने बिगड कर उन्हे इतने अनावश्यक व्यक्तियो को लाने का कारण पूछा तो दूतो ने कहा—"हम तो चार सौ व्यक्तियो को मार रहे थे, लेकिन चलते समय हमे ज्ञात हुआ कि बाकी के ४०० व्यक्ति उस मृत्युकाण्ड से भयभीत होकर अपने आप मर गये हैं। अत. हमे उनके प्राणो को भी लाना पड़ा।" कथा का मर्म यही है कि मौत के भय से प्रकम्पित होकर बहुत से मनुष्य मर जाते हैं तो साक्षात् मौत सामने आकर खड़ी हो जाय तो कहना ही क्या ?

क्या मृत्यु इतनी भयानक है, इतनी खतरनाक है कि मनुष्य उससे डर जाय ? क्या मृत्यु इतनी असह्य वेदना है, जिसकी तुलना संसार मे किसी भी वेदना से न की जा सके ? क्या मृत्यु इतनी दारुण दुखप्रद है कि मनुष्य उसे सह न सके ? या मृत्यु का भय भूत के भय की तरह काल्पनिक है;

तर्क के हथौडे की चोट खाकर क्या मृत्यु का भय भंग नहीं हो सकता ? क्या मृत्यु यो ही भयावनी लगती है, इसका स्पर्श सुखदायी नही है ?

मृत्यु क्या है ?

भारतीय तत्वचिन्तकों ने जितना जीवन पर गहराई से विचार किया है, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक मृत्यु और उसके बाद की अवस्थाओ के बारे मे विचार किया है। मृत्यु पर उनका किया गया अनुभव-सगत विश्लेषण मानव को वास्तविक तथ्य के दर्शन करा देता है और उपर्युक्त सभी प्रश्नो के उत्तर उनके युक्तिसगत और तर्कशुद्ध विश्लेषण में आ जाते हैं।

भारतीय तत्त्वचिंतकों ने मृत्यु से डरने की जगह मृत्यु का सहर्ष आलिगन करने की बात कही है। उनका कहना है, कि मृत्यु तो इस जीवन का अन्त है और दूसरे जीवन का प्रारम्भ है। इस जीर्णशीर्ण जीवन का अन्त करने के लिए और नया जीवन प्राप्त कराने के लिए मृत्यु तो एक साथी बन कर, मित्र बन कर आती है। क्या आपको कोई व्यक्ति आपके पुराने फटे टूटे कपडो को उतार कर, उनके बदले नये कपड़े पहिनाने लगे तो आपको खुशी होगी या नाराजी ? अनुभव कहता है कि आपको नये कपड़े पहिनने मे कोई नाराजी नही होगी और न नये कपड़े पहिनने वाले व्यक्ति को आप शत्रु मानेगे या उससे डरेंगे। इसी प्रकार अगर आपको आपका फटा-पुराना चोला (शरीर) बदल कर कोई नया चोला पहिनाता है तो

आपको नाराजी क्यों होती है ? आप उसे शत्रु क्यो मानते हैं ? आप उससे डर के मारे कांपने क्यो लगते हैं ? इसी तथ्य को गीता की भाषा मे कहू तो—

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥'

गीता के अमर गायक कर्मयोगी श्रीकृष्ण कहते हैं–मृत्यु आत्मा का नाश नही है, शरीर का वदल जाना है। जीव का या प्राणो का शरीर से अलग होकर दूसरे शरीर को धारण करना है। इसीलिए वे कहते हैं–मृत्यु से डरो मत, यह तो तुम्हे नया चोला—शरीर—देने आती है। जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्र को छोड़ कर दूसरा नया वस्त्र धारण करता है, वैसे ही मृत्यु में यह देहधारी पुराने शरीर को छोड़ कर दूसरा नया शरीर धारण कर लेता है। मृत्यु का मतलब आत्मा का नष्ट हो जाना नही है, और न शरीर का भी आत्यन्तिक अभाव ही है। हां, यह बात जरूर है कि जब मनुष्य पुराना शरीर छोड़ कर नया शरीर धारण करता है तो उस समय वह दूसरो को दिखता नही है और न उसे ही नये शरीर मे जन्म लेने का भान होता है। इसी कारण मानव घवराता है कि कही नया शरीर न मिला तो ? या पुराने शरीर की आसक्ति मे फ़स कर वह छटपटाने लगता है, वह नही चाहता कि मेरा यह शरीर छूटे, परन्तु यह तो स्वाभाविक है और इसे टाला नही जा सकता। कहा भी है—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च'

जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य ही होने वाली है और जो मर जाता है उसका जन्म भी निश्चित है ।

हंसते हसते आलिगन

इस प्रकार निश्चय की भाषा मे शास्त्रों द्वारा आपको गारटी मिल जाने पर भी आप क्यो घबराते हैं, मृत्यु से । मृत्यु तो एक महानिद्रा है ।

अक्सर जो लोग मृत्यु का रहस्य नही जानते हैं वे मृत्यु के नाम से भयभीत होकर घबराने लगते हैं, रोने-पीटने लगते हैं । मृत्यु का यह भयानक भय ही मनुष्य को हैरान कर देता है । मृत्यु की कला का रहस्य जानने वाला कभी इस भय से घवराता नही, वह तर्क और युक्तियो से मृत्यु का विश्लेषण करके निर्भय होकर, हंसते-हसते मृत्यु का आलिगन कर लेता है । मृत्यु का यथार्थ कारण मानव जीवन का परम विकास ही तो है ! इसीलिए एक मृत्युकला-मर्मज्ञ ने कहा है—

'मृत्यो र्बिभेषि किं मूढ़ !'

'अरे मूर्ख ! मृत्यु से क्यो डरता है; वह कोई डरने जैसी चीज नही है ।'

वास्तव मे विशुद्ध आत्मा का न तो जन्म होता है और न मरण । किन्तु शरीरधारी जीव का शरीर-परिवर्तन की अपेक्षा से शरीर का जन्म और मरण कहा जाता है । वर्त्तमान शरीर को छोड़ कर जीव का दूसरे शरीर में प्रयाण कर जाना ही मृत्यु कहलाता है।

मृत्यु : एक परीक्षा

इस संसार मे मनुष्य जब से जन्म लेता है, तब से लेकर मृत्यु तक का समय उसकी जिंदगी का साधना-काल है और मृत्यु का समय उसका परीक्षा-काल। जैसे कोई विद्यार्थी शिक्षण प्राप्त करने के लिए किसी विद्यालय मे पढता है और साल के अन्त मे उसकी परीक्षा होती है। इसी प्रकार साधना के विद्यालय मे मनुष्य अपनी साधना का अभ्यास करने के लिए अपने जीवन-काल मे साधना करता है, और जीवन के अन्त मे मृत्यु के समय उसकी सारी साधना की परीक्षा होती है। इस दृष्टि से मृत्यु सारी जिंदगी का निचोड है, जीवन भर की तैयारी की परीक्षा है। जैसे जो विद्यार्थी वर्ष भर के अध्ययन काल मे अपनी तैयारी नही करता, मन लगा कर अध्ययन नही करता, मटरगश्ती करता फिरता है, वह परीक्षा मे उत्तीर्ण नही हो सकता, इसी प्रकार जो मानव अपने जीवित काल मे अपनी साधना का सम्यक् अभ्यास नही करता, अपने मानव-जन्म को सफल बनाने की क्रिया या प्रवृत्ति नही करता, वह मृत्यु के समय—परीक्षा काल मे उत्तीर्ण नही हो सकता। उस समय वह उस फेल होने वाले विद्यार्थी की तरह पछताता है, जिसने अपने अध्ययनकाल मे अध्ययन नही किया, व्यर्थ ही अपना समय गँवाया। जो मनुष्य यह सोचता है कि जब मृत्यु सिर पर आयेगी, तब मैं अपनी तैयारी कर लूगा, उस समय मेरी भावना धर्ममयी हो जायेगी, मैं प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का आलिगन कर लूगा; यह बात प्रायः असभव-सी है। जैसे अध्ययन मे परिश्रम करने वाला विद्यार्थी परीक्षा भवन में परीक्षा-

पत्र मिलने पर कोई भी पुस्तक देख नही सकता, कुछ भी अध्ययन उस समय नही कर सकता, उस समय तो पहले का पढ़ा हुआ ही स्मृति-पट पर हो तो काम आ सकता है; इसी प्रकार मृत्यु का वह मेहमान भी, जिसने पहले से अपना जीवन अच्छे ढंग से नही विताया है, पहले से ही मानव जीवन की सुन्दर साधना नही की है तो मृत्यु के समय प्रायः असफल ही होगा, उस समय उसके स्मृति-पट पर पूर्व-जीवन के बुरे दृश्य या विकृत सस्कार ही आयेंगे। उस थोड़े से समय मे वह जीवन की सुन्दर साधना नही कर सकेगा। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति का मरण भी उसी तरह बिगड जाता है, जैसे उस मूर्ख परीक्षार्थी के पर्चे बिगड़ जाते हैं। मृत्यु तो प्रत्येक मनुष्य की जीवन भर की साधना का माप-दण्ड है। जिसका मरण सुधरा, उसका जीवन भी सुधरा हुआ समझा जाता है और जिसका मरण बिगड़ा, उसका जीवन भी बिगड़ा हुआ समझा जाता है। गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने कहा है—

"यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरं।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥"

'हे कौन्तेय! अन्त समय मे मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ, जिस-जिस प्रकार के अच्छे या बुरे विचारो को स्मृति-पट पर लाता हुआ शरीर छोड़ता है, वह तदनुसार उन भावों या विचारो से वासित होकर उसी गति को प्राप्त करता है।' जैन शास्त्र मे भी इसी बात को सूचित किया गया है—

'अन्तो मुहुत्तंमि गए अन्तो मुहुत्तमि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छंति परलोयं॥'—उ० ३४

जिस लेश्या (कषायानुरञ्जित चित्त की तरंग) में जीव मृत्यु प्राप्त करता है, अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर परलोक मे भी वह उसी लेश्यास्थान मे, तदनुसारी गति मे जा कर उत्पन्न होता है।

मृत्यु की कला

इसलिए मृत्यु की कला हस्तगत करने के लिए जीवन की कला हस्तगत करनी पड़ती है। मनुष्य अपने जीवन-काल में कष्टों से घबराता रहा है, विपत्तियो से डरता रहा है; परिवार, सम्प्रदाय, जाति, राष्ट्र या धन-सम्पत्ति पर या किसी भी व्यक्ति मे मोह-ममता रखता रहा है, आसक्ति में गले तक डूबा रहा है; उसे जब मृत्यु आ कर धर दबायेगी तो वह उस समय हाय ! हाय ! करके कायर और दीन की तरह आर्त्तनाद करता हुआ मरेगा। ऐसे व्यक्तियों की मृत्यु बिगड़ जाती है। उन्हें मृत्यु के समय भी अपने जीवन की बीती हुई मोह-ममता की घटनाएँ ताजी हो जाती हैं। मुझे इस सम्बन्ध मे एक रोचक उदाहरण स्मरण आ रहा है—

मारवाड़ के किसी गांव मे एक धनाढ्य व्यक्ति रहता था। उसने अपनी जिंदगी मे धन तो खूब जोड़ा, पर उसका सदुपयोग नही किया। उसकी रग-रग मे कृपणता रमी हुई थी। वह ब्याज-बट्टे और गिरवी का धधा करता था। एक बार वह ऐसा बीमार पड़ा कि मरणासन्न हो गया। उसके लड़के उसकी सेवा करने लगे। लड़को ने देखा कि पिताजी का अन्तिम समय नजदीक आ रहा है, इसलिए इनका चित्त धर्म-ध्यान की ओर लगाना चाहिए या परमात्मा का नाम स्मरण

कराना चाहिए, ताकि इनकी मृत्यु सुधर सके। परन्तु जिसने अपने जीवन भर मे कभी धर्म-ध्यान नही किया, धर्म को जीवन मे रमाया नही, ईश्वर में कभी मन को लगाया नही, उसका चित्त अब कैसे ईश्वर या धर्म में लग सकता था? सेठ का भी यही हाल था। उसके लड़को ने कहा—"पिताजी, अब धर्म मे चित्त लगाइये।" पिताजी उम्र भर माया के मजदूर ही वने रहे, धर्म मे कभी चित्त लगाया नही था, इसलिए तुरत बोल उठे—"अरे भाई, उस धरमा जाट मे दो सौ रुपये लेने हैं, याद रखना।" दूसरे लडके ने सोचा—"इन्हे ईश्वर की याद दिला दे तो ठीक रहेगा।" अतः उसने कहा—"पिताजी, अब तो ईश्वर का नाम लीजिए।" सेठ ईश्वर का नाम कैसे लेता? ईश्वर और माया के तो वैर होता है। अतः वह कहने लगा—"अरे याद रखना, ईश्वरप्रसाद पर कुर्क कराना है, उसने रुपये और व्याज दोनो नही दिये।" इतने मे तीसरे लड़के ने कहा—"पिताजी, अब तो थोड़े समय के मेहमान हो, राम-राम करो। "सेठ को तुरत पुरानी स्मृति ताजी हो उठी और उसने कहा—"अरे सुनो तो उस रामा नाई का खाता देख लेना, उसने पूरे रुपये चुका दिये या नही!" चौथे लड़के ने श्रीकृष्ण की याद दिलाई तो तपाक से सेठ बोल पड़ा—"अरे किसना माली के यहां से अपने रुपयो के बदले १० मन अनाज लाना है।" फिर सब लड़को ने मिल कर एक साथ कहा—"पिताजी, अब भगवान् को याद कीजिए।" पर सेठ की वुद्धि पर माया का गहरा पर्दा पड़ा हुआ था, इसलिए भगवान् का नाम याद दिलाते ही उसे भगवाना ब्राह्मण से

रुपये लेने की याद आ गई। इस प्रकार उक्त सेठ के मन में लेनदेन का ही विचार-प्रवाह चलता रहा। लड़के कहते रहे, पर उसका चित्त तो धर्म और ईश्वर की ओर नही मुडा सो नही मुडा।

इस कहानी को सुन कर आप उस सेठ पर हँस रहे हैं लेकिन हँसिये नही। सेठ का जीवन जैसा मृत्यु के समय दयनीय बन गया था, वैसे हजारों व्यक्तियो का जीवन दयनीय बन जाता होगा। आपका भी जीवन अन्तिम समय मे इस प्रकार का दयनीय और माया मे उलझा हुआ न बन जाय, हास्यास्पद न बन जाय, यह आपको सोचना है और अभी से ही मृत्यु को कला सीखने का प्रयत्न करना है।

सावधान रहिये

मृत्यु से मनुष्य को सुन्दर प्रेरणा लेनी चाहिए। वह क्यों आती है, किसलिए आती है और कैसे आती है, इसका रहस्य जानना चाहिए। साथ ही हर एक मनुष्य को हर समय सावधान रहना चाहिए; न मालूम कब मौत आ धमके। यद्यपि ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि मे उसकी तिथि निश्चित है; परन्तु साधारण अल्पज्ञ पुरुष इस बात को नही जानते कि मौत कब आयेगी ? इसलिए हर समय तैयारी रखनी चाहिए।

रेलगाड़ी के स्टेशन पर आने से पहले ही मुसाफिर को टिकट लेकर अपना सामान बाध कर तैयार रहना पडता है; ताकि गाडी आते ही वह उसमे बैठ सके। जो मुसाफिर तैयार

नही रहता, वह गाडी छूट जाने पर हाथ मलता रह जाता है। इसी प्रकार जीवन यात्री को भी मृत्यु के आने से पहले ही अपना धर्म और पुण्य का सामान बांध रखना चाहिए, अपने सुसस्कारो और सद्वृत्तियो की छाप लगी हुई सद्गति की टिकट पहले से ही बनवा कर रखनी चाहिए, ताकि मृत्यु रूपी रेलगाड़ी के आते ही फिर पछताना न पड़े और सहर्ष परलोक के लिए बिदा हुआ जा सके।

मृत्यु को देख कर घबराने और पछताने का कारण ही यही है कि मनुष्य अपनी साधना में सतत् जुटा नही रहता है, सावधान नही रहता है। वह गाफिल बन कर यह सोचता रहता है, अभी तो जवानी आई है, बुढ़ापा आयेगा, तब देखा जायगा, तब सत्कर्म कर लेंगे, सत्कार्य करना तो अपने हाथ की बात है। एक दिन भी सत्कार्य कर लिया तो जीवन का सारा पासा ही पलट जायगा। पर उसे यह मालूम नहीं है कि मौत का कोई निश्चय नही है कि वह बुढापे में आयेगी या जवानी मे ही आ जायेगी, अथवा अभी आ कर गला दबोच लेगी। जिस समय वह आयेगी, उस समय उसके मन की परिणति कैसी रहेगी, यह कौन कह सकता है ? क्या पता मौत के आगमन के समय सत्कर्म करने का समय भी रहेगा या नही ? बड़े-बड़े राजा-महाराजा, कोटयधीश, इन्द्र, चक्रवर्ती, यहां तक कि तीर्थंकर तक भी मृत्यु के क्षणों को आगे-पीछे करने या घटाने-बढाने में समर्थ नही है तो सामान्य आदमी तो किस बाग की मूली है ?

भगवान् महावीर और इन्द्र

भगवान् महावीर पर भस्मक ग्रह आता देख कर इन्द्र विनयपूर्वक उनके चरणो मे निवेदन करने लगा—"भगवन् ! आप पर भस्मक ग्रह के कारण महान् विपत्तिया आने वाली हैं, इसलिए अगर आप आयुष्य के क्षणो को थोड़ा और बढ़ा लें तो बड़ी कृपा होगी। भगवान महावीर ने कहा—"इन्द्र, ऐसा हो नही सकता। आयुष्य का एक क्षण भी बढाना या घटाना किसी के सामर्थ्य की बात नही है।" इन्द्र निराश हो कर चला गया।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि मृत्यु का समय टाल-मटूल करना या आगे-पीछे कर देना किसी भी प्राणी के हाथ की बात नही है। जीवन काल मे जो कुछ हो जाय, सत्कर्म या दुष्कर्म वही आपका है, आपके साथ जायगा। इसलिए मृत्यु के लिए तो हर समय तैयार रहना चाहिए। जो व्यक्ति मृत्यु को अपने सिर पर नगी तलवार की तरह लटकता हुआ देखता है, वह जीवन मे निष्पाप रह कर मृत्यु कला सीख सकता है।

निष्पाप का कारण

महाराष्ट्र मे एक सत एकनाथ महाराज हो गये हैं। उनसे किसी सज्जन ने पूछा—"महाराज, आपका जीवन बडा सीधा-सादा और निष्पाप है, हमारा जीवन ऐसा क्यो नही रहता ? हम देखते हैं कि आप कभी किसी पर गुस्सा नहीं होते, किसी से लड़ाई नही करते, झूठ-फरेब कभी नहीं

करते और हमारा जीवन इससे विपरीत दिशा में चलता है, इसका क्या कारण ?" सत एकनाथ ने कहा–"फिलहाल मेरी बाते तो रहने दो। तुम्हारे सम्बन्ध में मुझे एक बात मालूम हुई है कि आज से सातवे दिन तुम्हारी मौत आ जायेगी।" इस बात को सुनते ही वह सज्जन एकदम गमगीन हो गया। सात दिन मे मृत्यु ! केवल १६८ घटे बाकी रहे है ! बाप रे बाप, यह कैसा अनर्थ ! वह यों सोचते-सोचते अपने घर की ओर दौड पडा। घर जा कर वह आखिरी समय की सब कुछ बाते सोचने लगा। अपना कारोबार और इतना सारा पसारा समेटने की सोचने लगा। पर मृत्यु की बात रह रह कर उसके दिमाग मे घूम रही थी, इससे उसे जबर्दस्त धक्का लगा था। वह निश्चय ही न कर सका कि कौनसा काम पहले करू, कौनसा पीछे ? वह तो मृत्यु की चिन्ता मे ही व्याकुल हो कर बीमार पड़ गया। ६ दिन बीत गये। सातवें दिन सत एकनाथ उससे मिलने घर पर आए। उसने शय्या पर बैठे २ ही नमन किया। एकनाथ ने पूछा–"क्यो भाई, क्या हाल है ? उसने कहा–"बस, क्या पूछना, मैं तो अब चला !" एकनाथ बोले–"अच्छा यह तो बताओ पिछले ६ दिनो मे तुमने कितना पाप किया ? तुम्हारे मन में कितने पाप के विचार आए ?" वह बोला–"महाराज, मेरे सामने तो हरदम एकमात्र मौत ही नाच रही थी, पाप करने का विचार ही कैसे आता। फिर पाप कर्म तो दूर रहा !" "तो तुम्हारे सवाल का उत्तर तुम्हे मिल गया न कि मेरा जीवन इतना निष्पाप क्यो है ?" "हां,

महाराज, मैं अब आपके निष्पाप जीवन का रहस्य समझ गया हूं। आप हर समय मृत्यु को अपने सामने तैयार खड़ी देखते हैं, यही न ?" उस सज्जन ने कहा। संत एकनाथ ने कहा—"बस, निष्पाप जीवन का रहस्य यही है कि तुम मौत को हर समय अपने सामने खडी देखो।" तुमने ७ दिन मौत को दृष्टिसमक्ष उपस्थित देखी, इसलिए पाप के विचार नही आए, इसी तरह जोवन भर देखोगे तो तुम्हारा जीवन निष्पाप होते देर न लगेगी।" मौत का शर सदैव सामने खडा है, ऐसा सोच कर मनुष्य सतर्क रहे तो उसे पाप-कर्म सूझेगा ही क्यों ?

खुशी से मरना सीखो

साधारण आदमी मृत्यु से घबरा जाता है, उसके कारण ये हो सकते हैं—पहला कारण तो यह कि उसे अपने शरीर पर अत्यधिक मोह होता है। देहासक्ति के कारण वह चाहता है कि यह देह छूटे नही। पर वह यह नही सोचता कि यह तो प्रकृति का अटल नियम है। इसमे किञ्चित् भी रद्दोबदल हो नही सकता। दूसरा कारण, उसके इस जन्म से सम्बन्धित कुटुम्बी, सम्बन्धी, प्रेमी, मित्र, साथी, जातिभाई आदि की गाढ़ आसक्ति के कारण उनसे वियोग होना उसे असह्य लगता है। तीसरा कारण, धन-सम्पत्ति, मिल्कियत, जमीन-जायदाद आदि पर ममत्व है, जिसके छूट जाने के भय से वह दु.खी होता है। चौथा कारण, शुभ कार्य इस जन्म मे न कर पा सकने के कारण हृदय मे पश्चात्ताप होना। ऐसा पश्चात्ताप भी बहुत

थोड़े व्यक्तियों को हुआ करता है, जिनका जीवन सरल और सादा सीधा हो। पाचवां कारण, जीवन में अनेक पाप कर्म, अनिष्ट कर्म या दुष्कर्म किये जाने के कारण परलोक मे दुर्गति मिलने का भय है। इस भय से मानव घबरा जाता है और अत समय मे कुछ भी शुभ भावना या किसी से क्षमा-याचना आदि नही कर पा सकता है। छठा कारण, प्रतिष्ठा का मोह भी हो सकता है। मनुष्य ने अपने जीवन-काल मे जो प्रतिष्ठा सचित की है, वह साथ नही जायगी, या मिट जायगी, यह सोच कर मनुष्य अन्तिम क्षणो मे घबराता है।

इन सब कारणो को ले कर ही मृत्यु-कला-मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष यह कहते हैं कि मृत्यु की कला सीखने के लिए जीवन मे पहले से ही साधना होनी चाहिए। जीवित काल ही कार्यकाल है, मृत्युकाल तो विश्रान्तिकाल है, उस समय मन के मनसूबे मन मे ही धरे रह जायेंगे, कुछ होगा नही। इसलिए भलाई के कार्य या सुकृत कार्य पहले से ही कर लेना चाहिए। उर्दू के एक शायर कहते हैं—

'मरने से मफर नहीं है, जब अय अकबर।
बेहतर तो यही है, खुशी से मरना सीखो।।'

जीवन-वृक्ष का फल

भारतीय संस्कृति मे मृत्यु के सम्बन्ध मे जो विचार अभि-व्यक्त किये हैं वे बड़े ही मधुर हैं। मृत्यु जीवन-वृक्ष का फल है, महायात्रा है, महानिद्रा है, जो नई ताज़गी और नया उत्साह प्रदान करती है।

यदि मृत्यु नही होती तो ससार कुरूप हो जाता। आज ससार मे जो सुन्दरता के सदर्शन हो रहे हैं वे मृत्यु के कारण ही हैं। मृत्यु मानव को पाप से बचाती है, और जीवन मे सत्कर्म करने के लिए उत्प्रेरित करती है।

मौत जब तक नजर नहीं आती, जिन्दगी राह पर नहीं आती।

मानव देह मानो एक मटका है। हिन्दुओ मे यह परम्परा है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके आगे एक मटका ले जाया जाता है। वह मटका इस बात का प्रतीक है कि यह शरीर मटका था जो फूट गया है। यह मटका इस जीव को इसलिये मिला था कि इसमे सत्कर्म का पानी भरा जाय, पर अत्यन्त परिताप है कि इसने इसमे सत्कर्म का पानी नही भरा और यह फूट गया। अतः यह मटका प्रेरणा देता है कि फूटने के पूर्व सत्कर्म का शीतल पानी भरो।

एक चान्स

व्यापारी दिन भर व्यापार करता है और सध्या को यह देखता है कि दिन भर के श्रम का उसे कितना लाभ हुआ है, यदि लाभ नही तो कितनी हानि हुई है। मृत्यु भी जीवन के व्यापार को जाँच करने को संध्या है। इस सध्या मे यह देखना है कि उसने जीवन मे कितना पाया है।

मृत्यु मानव की विवशता ही नही अपितु एक कला है, चान्स है। मानव, मानव की तरह जीता है—अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा और पुरुषार्थ से पर मानव की तरह ही मृत्यु का आलिगन करे यह कला है।

जिसे मृत्यु कला आ जाती है, मृत्यु के रहस्य को जो जान लेता है, वह पहले से ही तैयार रहता है, मौत को आलिगन करने के लिए। वह हसते-हसते मौत को स्वीकार करने मे तनिक भी नही हिचकिचाता। वह मौत को टालने का प्रयत्न नही करता।

अन्तर

एक बात जरूर है कि मृत्यु दोनो प्रकार के व्यक्तियों को आने वाली है। जो तन, धन एव परिवार पर गाढ आसक्ति रखता है, उसे भी मरना है और जो निरासक्त रहता है, उसे भी मरना है। जो कष्टो के समय घवरा जाता है वह भी मरेगा ही, और जो हसते-हसते समभाव से कष्टो को सहता है, वह भी मरेगा, पर दोनो की मृत्यु मे महान् अन्तर है, दिन और रात का अन्तर है, उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव जितना दिगाभेद है। जैन शास्त्र मे कहा है:—

"धीरेणं वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं ।
दुण्हं पि हु मरियव्वे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ।
सीलेण वि मरियव्वं, निस्सीलेण वि अवस्स मरियव्वं ।
दुण्हं पि हु मरियव्वे, वरं खु सीलत्तणे मरिउं ॥"

शरीरधारी सभी प्राणियो को एक न एक दिन मरना तो है ही परन्तु एक धीरतापूर्वक मृत्यु प्राप्त करता है, दूसरा कायरतापूर्वक मरता है; एक सत्य, शील की आराधना करते हुए मरता है, धर्मपालन करते हुए मरता है, दूसरा शील, सदाचार और धर्म से रहित जीवन बिताते हुए मरता है; दोनो मे मृत्यु उसी को श्रेष्ठ है जो धीरतापूर्वक या शीलाराधना करते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है । कायर की तरह रोते बिलखते हुए मरने की अपेक्षा संयमशील होकर धैर्यपूर्वक हसते-हंसते मरना अच्छा है। एक उर्दू के शायर ने भी कहा है—

"हंस के दुनिया में मरा कोई, कोई रो के मरा ।
जिंदगी पाई मगर उसने, जो कुछ हो के मरा ॥"

जैन शास्त्रो मे अज्ञानपूर्वक, बिना किसी सत्कर्म किये, धर्म-पालन किये, रोते-बिलखते मर जाने को बाल-मरण कहा है और ज्ञानपूर्वक, सदाचार, सत्य, सयम और धर्म-पालन करते-करते हसते-हसते मर जाने को पण्डित-मरण कहा है ।

बाल मरण

बाल मरण मृत्युकला से अनभिज्ञ व्यक्ति का मरण है। वाल मरण का वास्तविक अर्थ मृत्यु के रहस्य को नही समझ वाले का मरण है। बाल मरण से सब से वडी हानि यह होती है कि मनुष्य बिना तैयारी के, विना धर्म पालन के, दु:खित-

पीड़ित होते हुए मरता है, जिससे उसे भविष्य मे अनेक बार जन्म मरण करना पडता है, जब कि पण्डित मरण वाला व्यक्ति अपने जन्म मरण को सीमित कर लेता है अथवा कोई उत्कृष्ट समाधि मरण से मरे तो सदा के लिए जन्म मरण की वड़िया तोड़ डालता है।

मरणो जाणणो

मेवाड़ के योगनिष्ठ मृत्युकलाविद् श्री चतुर्रसिहजी महाराज ने अपने अनुभव को अन्तर्वाणी मे कहा—

'मरणो जाणणो, मरणो जाणणो।
या मनखां मोटी बात मरणो जाणणो ॥ध्रुव॥
मरणो मरणो सारा केवे, मरे सभी नर नारी रे।
मरवा पेली जो मर जावे वा बलिहारी रे ॥मरणो. १॥

इस जगत् मे सभी मनुष्य 'मरना है, मरना है,' ऐसा कहते फिरते है और मृत्यु के विषय मे बड़े बडे दार्शनिक भी लच्छेदार भाषण दे सकते हैं, मृत्यु के रहस्य को खोल कर लिख सकते है, दूसरो को मृत्यु की गूढतम गुत्थी भी समझा सकते हैं, किन्तु स्वय मरना तो विरले ही जानते है। जो मृत्यु आने से पहले ही मृत्यु का रहस्य अनुभूति की शान पर चढा लेते है, समस्त आसक्तियो, कामनाओ और ममताओ को मार देते हैं, उनका ही मरना सार्थक है, उनकी ही मृत्यु वीरों की मृत्यु है। इसका तात्पर्य यह है कि मृत्यु अपने आप मे कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नही है और जिन्दा रहना भी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नही है। कर्त्तव्य के लिए जिन्दा रहना है और कर्त्तव्य के लिए मरना है। जीवन और मरण इन दोनो के नीचे कर्त्तव्य की

पृष्ठभूमि रह रही है। मानवता, सत्यता और सिद्धान्त की रक्षा करते हुए, इस आत्मा के अन्दर परमतत्त्व की खोज करते हुए अगर हम पचास सौ या इससे भी अधिक वर्षो तक जिंदा रहते हैं तो हमे जीने का हक है। परन्तु जब देखे कि आत्मा के लिए, इन्सानियत के लिए जिंदा नही रह रहे हैं, कर्त्तव्य-पालन और धर्म-पालन के लिए जिंदा नही रह रहे हैं, बल्कि इनकी हत्या कर के, इनकी उपेक्षा कर के जिंदा रह रहे हैं तो उस हालत मे हमें जीवन की आसक्ति को तोड देना चाहिए और मृत्यु को स्वीकार कर लेना चाहिए। अपने परम आदर्श के लिए हम जिंदा रहें तो ठीक है और आदर्श के पीछे यदि मृत्यु भी आए तो उसे भी हसते-हसते स्वीकार करना उचित है। हमारे जीवन मे धर्म का प्रकाश न हो, आदर्श लुप्त हो रहा हो, मोह ममताए हमे घेरे खडी हो, हम पर पाप कर्म अपना कब्जा जमा रहे हो तो उस समय मरना ही श्रेयस्कर है।

'वंतं इच्छसि आवे उं, सेयं मरणं भवे'

'जिस चीज को हम अपने जीवन के विपरीत, अपने आदर्शों के प्रतिकूल समझ कर त्याग बैठे हो, उस चीज को पुन स्वीकार करने के बदले मरना ही श्रेयस्कर है।'

धर्म के लिए, अपने आदर्शो के लिए और सत्य के लिए मर मिटने वालो की सख्या ससार के इतिहास मे भले ही थोडी रही हो, पर वे घटनाए प्रकाश की तरह प्रेरणा देने वाली हैं। वे अपने जीवन मे जब तक जिंदा रहे, आदर्शों, धर्म और सत्य के लिए रहे, परन्तु उन आदर्शों, धर्म और सत्य के लिए मृत्यु भी उनके सामने आई तो उन मृत्युकला-मर्मज्ञो ने तनिक भी

हिचकिचाहट नही की, वे जरा भी गड़बडाए नही और हसते-हसते उन्होने मृत्यु का स्वागत किया।

स्कन्दक मुनि

जैन शास्त्रो मे ऐसे अनेक उदाहरण उन धर्मवीरो के मिलेंगे। स्कन्दक मुनि का नाम तो आपने सुना ही होगा। एक नगरी मे वे अपनी जीवन यात्रा के लिए भिक्षाटन कर रहे हैं। अचानक हो उन पर राजा की क्रूर दृष्टि पड़ जाती है। उनको राजद्रोही समझ कर राजद्रोह का अपराध लगा दिया जाता है और जल्लादो को हुक्म दिया जाता है कि श्मशान मे ले जा कर उस भिक्षु के शरीर की खाल उतार लो। मुनि ने कही फरियाद भी नही की। उन्हे परमात्मा के सिवाय किसी के सामने फरियाद भी तो नही करनी थी। जल्लादो ने उन्हे मृत्यु-दण्ड का हुक्म सुनाया और वे प्रसन्न भाव से उनके साथ चल पडते है, मृत्यु का आलिगन करने। और आपको सुन कर आश्चर्य होगा कि जहां बडे-बड़े वीर, भालो की नोक पर चलने वाले भी लड़खडा जाते है, वहां ये धर्मवीर, त्यागवीर और क्षमावीर अपने आदर्श के लिए शरीर की खाल उधड़वा कर शान्ति से, समभाव से, चेहरे पर किसी प्रकार की सिकुड़न लाए बिना मृत्यु को स्वीकार कर लेते है।

गजसुकुमार

और गजसुकुमार मुनि का भी आदर्श मरण आपके सामने सूर्य की तरह चमक रहा है। उन्होने परमात्म भाव में रमण करते हुए अपने शरीर को हंसते-हसते छोड़ दिया।

न परिवार की कोई चिन्ता आई, न अपने शरीर पर ही कोई महत्व आया और न सोमिल ब्राह्मण पर ही किसी प्रकार का द्वेष भाव आया।

सुकरात

सत्यवीर सुकरात सत्य के लिए मर-मिटने मे जरा भी नही हिचकिचाये। वे खुलेआम बाजार मे लोगो को सत्य बात कहते, निर्भीकता से सत्य का प्रतिपादन करते। कई नवयुवक उनके सत्य कहने से बहुत आकर्षित हुए। एक बार उनसे अपने देश के दस सेनापतियो को मृत्युदण्ड देने के बारे मे पूछा। उनने उसमे अपनी सम्मति नही दी। अन्त मे उन पर दो आरोप लगाए गए। एक तो यह कि तुमने प्रजातत्र के स्वामियो की उपेक्षा की, उनमे अविश्वास किया। दूसरा यह कि तुमने नगर के युवको को बिगाडा। इन दो दोषा-रोपणो के फलस्वरूप सुकरात को कैद कर लिया गया। सुकरात सत्य बात कहने मे जरा भी नही हिचकिचाते थे। न्यायाधीश के सामने जब उनके बयान लिये जा रहे थे तो उन्होने कहा—"मैंने ईश्वराज्ञा से अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। मै ईश्वराधिकारो को अपने अधिकारों से ज्यादा मानता हू। यदि आप मुझे अपने सत्य-कर्त्तव्य से छुडा कर मुक्त होने की सलाह दें तो भी मैं उन्हे छोडने को तैयार नही हू। यह कार्य मुझे ईश्वर ने दिया है, आपने नही। मुझे मानसम्मान की बिल्कुल लालसा नही है। मैं नही जानता कि मृत्यु क्या है? वह एक अच्छी चीज भी हो सकती है। मैं उससे डरने

वाला नही। जो बुरा है, उसकी अपेक्षा जो अच्छा है, उसी को मै पसन्द करूंगा।" एथेस की राजसभा ने उन्हें विषपान की सजा दी। सजा बहुत कठोर थी, निर्दोष पर अन्याय था, किन्तु वे मृत्यु से घबराए नही। मृत्यु को टाल कर सत्य को मारना उन्हे पसद नही था। आप विष के प्याले को हाथ मे ले कर प्रसन्नता से पान कर गये और सदा के लिए आखे मूद ली।

ईसामसीह

प्रेम-सिन्धु ईसामसीह भी अपने आदर्श के लिए बलिदान हो गए थे। अपनी मृत्यु से पूर्व रात्रि को ईसा अपने बारह शिष्यो के साथ भोजन करने बैठे थे। ईसा अपनी पत्तल मे से एक ग्रास उठा कर शिष्यो की ओर देख कर कहने लगे—"प्यारे शिष्यो, तुम मे से एक व्यक्ति मुझ पर क्रुद्ध हो गया है।" गुरु के वचन से सबको आश्चर्य हुआ। सब एक दूसरे के मुह की ओर देखने लगे। प्रत्येक का हृदय गुरु-भक्ति से पूर्ण था। प्रत्येक ने करुण स्वर से पूछा—"क्या मैं हू ?" ईसा ने उनकी ओर प्रेम-पूर्ण दृष्टि डाल कर कहा—"नही, मैं जिसके मुह मे ग्रास दू वह !" ऐसा कह कर वे एक शिष्य के पास गए, जो शत्रुओ से मिल गया था और रात को ही ईसा को उन्हे सौंपने की साजिश कर चुका था; उसके मुंह में ग्रास दिया।" उस हृदयहीन को कोई विचार नही आया। ईसा ने उसकी पीठ पर हाथ फेर कर कहा—"यहूआ, वक्त होने आया है, काम पर जा।" वह वहा से चल पड़ा, लेकिन उस नराधम

का हृदय नही पिघला। वह ईसा के विरोधियो के पास गया, पूर्वयोजित षडयन्त्रानुसार हथियारबन्द सिपाहियो को ला कर ईसा को पकड़वा दिया। ईसा ने उस समय भी यहूश्रा को क्रोध-दृष्टि से नही देखा और क्षमापूर्वक उस पर नजर डाली। अपने गुरु को हथियारबन्द सिपाहियो से पकड़े देख कर एक शिष्य ने बहुत क्रुद्ध हो कर एक सिपाही का कान काट लिया। तब ईसा ने उससे कहा—"अरे, हाथ वापिस खीच ले, तलवार चलाने वाले तलवार के ही शिकार हो जाते हैं।" उसके बाद ईसा को न्यायालय मे लाया गया, जहा रोमन अधिकारियो ने उन्हे निर्दोष ठहरा कर मुक्त कर दिया। लेकिन यहूदी लोगो को यह न्याय पसद नही आया। उन्होने ईसा की मनमानी मजाक उडानी शुरू की और फिर उन्हे क्रॉस पर चढा कर उनके हाथ पैरो मे खीलें ठोक दी। मरते समय भी इस पुण्य पुरुष ने शत्रुओ को आशीर्वाद दिये, क्षमा प्रदान की और हसते-हसते प्रसन्न भाव से वह अपने आदर्श के लिए बलिदान हो गया।

कर्त्तव्य के लिए

मृत्यु की कला जिसको आ जाती है, वह अपने कर्त्तव्य के लिए इस दुनिया मे जीता है और कर्त्तव्य के लिए मर मिटता है। हजारो देशभक्त देश के लिए कुर्बान हो जाते हैं। उन्हें मृत्यु का भय डरा नही सकता, उन्हें मृत्यु का रोष फुसला नही सकता, वे अपने ध्येय के लिए शहीद हो जाते हैं। सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाष बोस आदि नरवीर इसी

प्रकार स्वदेशभक्ति से प्रेरित हो कर मर मिटे। धर्म के लिए मर मिटने वालो मे सिक्ख सम्प्रदाय के दो नरवीर—फतहसिह और जोरावरसिह भारतीय इतिहास मे प्रसिद्ध हैं। उन्हें मुगल बादशाह ने धर्म-परिवर्तन के लिए अनेको प्रलोभन दिये, भय भी दिखाए, किन्तु वे टस से मस न हुए और आखिरकार उन्हें दीवार मे चुन दिया गया। वे धर्म के लिए मर कर भी अमर हो गए। पजाब का वीर हकीकत भी धर्म के लिए कुर्बान हो गया था। धर्मप्राण लोकाशाह को भी धर्म के लिए विरोधियो ने जहर दे दिया जिससे हंसते-हसते वे अपने प्राणो को न्योछावर कर गये।

साधना

जो मृत्युकला का रहस्य समझ लेता है, वह कायरो की तरह होने वाली मृत्यु को स्वीकार नही करता, वह वीरों की सी मृत्यु को ही मजूर करता है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने पौत्री मनु बहन से कहा था—"अगर मैं किसी बीमारी से मर जाऊँ, या कायरो की तरह अपने आदर्श को छोड़ कर मर जाऊँ तो तू समझना कि मैं एक ढोगी था, महात्मा नही था।" जिन दिनो नोआखाली में हिन्दू-मुसलमानो का पारस्परिक दगा हुआ उससे महात्माजी का दिल दहल उठा। वे तुरत वर्धा से नोआखाली की जलती आग में गये। मृत्यु का आतक वहाँ उन्हें जरा भी अपने कर्त्तव्य से डिगा नही सका।

अन्ततोगत्वा साम्प्रदायिकता के शिकार नाथूराम गोडसे ने, महात्माजी जब प्रार्थना करने जा रहे थे तब उन पर तीन

गोलियाँ चलाईं। महात्माजी घबराए नही, और न उन्होने गोडसे को भी कुछ बुरा-भला कहा। क्रोध न करते हुए शात भाव से अन्तिम समय मे उन्होने अपने मुख से 'हे राम!' ही उच्चारण किया। गाँधीजी के लिए सारा देश चिन्तित था। देश के प्रसिद्ध नेता उनकी रक्षा के लिए पुलिस का प्रबन्ध कर रहे थे, परन्तु गाँधीजी को यह पसद नही था। उन्होने इससे साफ इन्कार कर दिया और यही कहा—"जिसका अहिंसा में पूरा विश्वास है, उसे अपनी रक्षा के लिए किसी की जरूरत नही है।" इस प्रकार उनकी मृत्यु को विश्व के सभी राष्ट्रो ने आदर्श मृत्यु के रूप मे देखा। परन्तु क्या आप यह समझते है कि महात्मा गाधी को मृत्युकला एक ही दिन मे आ गई थी? नही, यह उनकी सारी उम्र भर की साधना का फल था। वे मृत्यु के लिए पहले से ही तैयार थे। वे अपने जीवनकाल मे जब भी मृत्यु का प्रसग आया तो डरे नही, आमरण अनशन तक के लिए तैयार हो गए थे। मृत्युकला उन्हे अपनी साधना से हस्तगत हुई थी।

बिहार के चम्पारन जिले मे गांधीजी ने जब सत्याग्रह किया उस समय का एक प्रसंग है। वहा अंग्रेज लोग किसानो को बहुत कष्ट देते थे। जब गाधीजी कष्ट-निवारणार्थ वहां पहुचे तो एक अग्रेज ने प्रतिज्ञा की कि "यदि गाधीजी मुझे एकान्त मे मिल जाये तो मैं उन्हें गोली से उड़ा दूगा।" बापू के कानो मे यह बात पडी। वे मृत्यु से कब डरने वाले थे? दूसरे दिन सुबह ही वे अग्रेज के द्वार पर गये और कहा—"तुमने कल गांधी को मारने की प्रतिज्ञा की थी न? लो,

तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लो। मैं स्वयं तुम्हारे पास आ गया हूं।" अब वह अग्रेज क्या बोलता ? वह पानी-पानी हो गया और क्षमा मागने लगा।

हा, तो कहने का मतलब यह है कि जो मृत्युञ्जयी वीर मृत्यु को हसते-हसते स्वीकार कर लेते हैं, उनके जीवन मे पूर्व साधना रहती है। शास्त्र मे साधुओ के लिए कहा गया है—

'जीवियास मरणभय विप्पमुक्को'

अर्थात्—'वह जीने की भी आशा न रखे और मृत्यु के भय से भी मुक्त हो।'

सलेखना और सथारा

साधु तो जब से दीक्षित होता है तभी से वह सिर पर कफन बांध कर चलता है, यानी मौत को साथ मे लिए फिरता है, मौत से दोस्ती करता है और जीवन की भी आकाक्षा नहीं करता। जीवन और मृत्यु उसके लिए एक खेल है। वह तो यही सोच कर चलता है कि जिदा रहना आत्मा का धर्म है और मरना इस शरीर का धर्म है। इसमे हर्ष-शोक करने की कही गुंजाइश नही है। वह अपने आदर्श के लिए, सत्य और सिद्धान्त के लिए जिदा रहेगा। जब देखेगा कि अब इस शरीर से सिद्धान्त-पालन नही हो रहा है, धर्म-पालन मे यह शरीर विघ्न रूप बन रहा है, दूसरो पर बोझ रूप बन रहा है तो वह इसे समझदारीपूर्वक, स्वेच्छापूर्वक सलेखना कर के छोडने में आनाकानी नही करेगा।

उसके हृदय मे कवि की यह वाणी गूज उठती है—

'मरने से जग डरत है, मुझ मन बडा आनन्द।
कब मरिहों कब भेंटिहों पूरण परमानन्द ॥'

जैन शास्त्रो मे साधु और गृहस्थ दानो के लिए अन्तिम समय मे एक साधना का विधान है, जिसे आज की प्रचलित भाषा में संथारा कहते हैं, उसका पारिभाषिक नाम सलेखना है और कही-कही भक्त-प्रत्याख्यान या अनशन भी मिलता है। यह तभी किया जाता है, जब या तो शरीर बिलकुल धर्मपालन करने लायक न रहा हो, जराजीर्ण होकर छूटना ही चाहता हो, बचने की कोई भी आशा न रह गई हो, मृत्यु के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हो, अथवा मृत्यु निकट भविष्य मे शीघ्र ही आने वाली है, ऐसा प्रातिभज्ञान या पक्का अनुमान हो गया हो। अथवा उस समय किया जाता है जब कोई भयकर उपद्रव आ पड़ा हो, दारुण विपत्ति, उपसर्ग आ पडा हो, सत्य, सिद्धान्त, ब्रह्मचर्य और धर्म खत्म हो रहे हो। वैसे ही चलते-फिरते या बिना किसी भी उपर्युक्त कारणो के सहसा किसी के मन में आ गया और वह ऐसा करे तो उसे शास्त्रकार सलेखना-सथारा पूर्वक मृत्यु न गिन कर बाल-मरण की कोटि मे ही गिनते हैं। आजकल आत्महत्या का बाजार बहुत गर्म है। चाहे जो व्यक्ति और चाहे जिस समय, जीवन से ऊब कर, किसी प्रेमिका के न मिलने की हालत मे निराश होकर, किसी पत्नी का पति से या घर वालो से लडाई झगडा होने पर, किसी पुत्र का अपने माता-पिता से अनबन होने पर आत्म-हत्या करने पर उतारू हो जाता है; यह बाल-मरण है।

संथारा : आत्म-हत्या नहीं

वहुत से लोग सलेखना-संथारा या भक्त-प्रत्याख्यानपूर्वक मरने को आत्महत्या समझे वैठे हैं, लेकिन यह उनकी नितान्त भूल है। आत्महत्या और समाधि-मरण मे वहुत अन्तर है। आत्महत्या मे निष्कारण ही शोक, मोह, कलह, चिन्ता आदि के वश शरीर नष्ट किया जाता है, जव कि इस समाधि-मरण मे भय-शोक आदि को भूल कर, प्रसन्नमन से, मैत्रीभाव से सबको देखते हुए निर्मोह भाव से देहत्याग किया जाता है। आत्महत्या मे जीवन से निराश हो कर, तग आ कर, या प्रतिष्ठा मे किसी प्रकार की चोट लगने पर, ऊब कर देहत्याग किया जाता है, जब कि समाधि-मरण मे ससार से ऊब कर, निराश हो कर, तंग आ कर या किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोह रख कर देहत्याग करने के लिए कोई स्थान या गुजाइश नही है। आत्महत्या मे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान प्रधानतया आसन जमाए रहते हैं, जवकि समाधि-मरण मे इन दोनो अपध्यानों को छोड़ कर धर्मध्यान मे तल्लीन हो कर प्राणत्याग किया जाता है। आत्महत्या मे कषायो और वासनाओ का प्रवल ज्वार उमड आता है, जव कि समाधि-मरण समस्त कषायों और वासनाओ के त्याग होने पर ही होता है। आत्महत्या में शरीर का दुरुपयोग है, जवकि समाधि-मरण मे सभी प्रकार के रागद्वेप, मोहमाया के वेगों से निर्लिप्त होकर, स्वस्थ मन से, कर्त्तव्य-वश आयुष्य की निकटता समझ कर देहत्याग किया जाता है, या सत्य, सिद्धान्त, धर्म या किसी जीव की रक्षा के लिए अपने प्राणो का वलिदान किया जाता है। आत्महत्या किसी

कामना को लेकर होती है; उसमे क्रोध, लोभ, शोक-मोहादि कारण होते हैं; जब कि समाधि-मरण निष्काम होता है, इसमे केवल आत्मशुद्धि का ही लक्ष्य होता है। आत्महत्या करने वाले व्यक्ति के जीवन मे अहिंसा, सत्यादि व्रतो की साधना प्राय: नही होती, जब कि समाधि-मरण प्राप्त करने वाला व्यक्ति प्राय: अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य आदि व्रतो की साधना अपने जीवन काल मे किया हुआ होता है। आत्म-हत्या करने वाले व्यक्ति मे आत्मा के अजर, अमर और अवि-नाशी होने मे वह विश्वास या श्रद्धा नही होती, जब कि समाधि-मरण के अधिकारी में विश्वास या श्रद्धा जबर्दस्त होती है। वह मृत्यु से भय नही खाता। ऐसे मृत्युञ्जय, मृत्यु-कला-मर्मज्ञ व्यक्ति ही सल्लेखना-सथारा या भक्त-प्रत्याख्यान की साधना के अधिकारी हैं, आत्महत्या करने वाले नही। सल्लेखना-सथारा या अनशन का लक्ष्य मृत्यु को टालना नहीं होता, उसका वास्तविक लक्ष्य मृत्यु को उस रूप में स्वीकार करना है, जिससे वह अभिशाप बन कर वरदान बन जाय। मृत्यु को वरदान बना देना मानव का सब से बडा पुरुषार्थ है। सल्लेखना-सथारा या समाधि-मरण इसी पुरुषार्थ के सूचक हैं। इस प्रकार जैन धर्म के गृहस्थ और साधु दोनो प्रकार के साधको के लिए मृत्यु सम्बन्धी व्यवस्था कितनी श्रेष्ठ है, कितनी पवित्र है, कितनी ऊँची है ? इस प्रकार मृत्युकला मे पारंगत व्यक्ति मृत्यु को अपने लिए वरदान बना सकता है और अपने जीवन को उच्चगति की ओर ले जा सकता है। यद्यपि मरण समाधि या जीवित समाधि की व्यवस्था हिन्दूधर्म

मे भी विद्यमान है, तथापि जैनधर्म की संल्लेखना-संथारा की साधना इन सब से अधिक ऊँची है, विवेकयुक्त है ।

दूषण

मृत्यु कला की साधना के लिए; समाधि-मरण के लिए जैन शास्त्र में पांच दूषण माने गये हैं—

"इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे ।"

इस लोक मे किसी भी वस्तु या व्यक्ति पर आसक्ति रखना, परलोक मे मिलने वाले स्वर्गीय सुखो की आशा करना, अधिक जीने की आकांक्षा करना, कष्ट से घबरा कर शीघ्र मरने की इच्छा करना, इन्द्रियसुखोपभोगो की लालसा करना । इसलिए सफल मृत्यु उसी की होती है, जो मृत्यु की कला को समझ लेता है । पति के पीछे चिता मे जल कर सती हो जाने की प्रथा भी अज्ञान मृत्यु-बालमरण है । इसी प्रकार विषभक्षण, अग्निप्रवेश, जल मे डूब जाना, झंपा पात, फांसी लगा लेना, दम घोट लेना आदि सब आत्महत्या के प्रकार है, जिनसे मृत्यु सुधरती नही है, बिगड़ जाती है ।

मृत्यु से अमृत की ओर

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि मृत्यु भी एक कला है, और वह कला ऐसी है, जिसके लिए जीवन भर साधना करनी पड़ती है, दृष्टि मांजनी पड़ती है, विचारो को साफ करना पड़ता है, आत्मा पर आई हुई विकारो की परतो को, मोह के जालो को हटाना पड़ता है; तभी मृत्यु की कला मे मनुष्य प्रवीण होता है ।

भारतीय दार्शनिको ने तो मृत्यु सो सफल करने के लिए मृत्युकला की बात कहने के बावजूद भी ऊंची उड़ान भरी है, जिसमे मृत्यु फिर कभी आए ही नही, ऐसी स्थिति प्राप्त करने की प्रभु से प्रार्थना की है—

'मृत्योर्मा अमृत गमय'

'प्रभो, मृत्यु से मुझे अमरता की ओर ले चल !'

अगर वास्तव मे आप ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहते हो तो मृत्यु को सफल बनाना सीखिए, मृत्यु को एक महोत्सव मान कर उसकी खुशिया मनाइए, और सबसे क्षमायाचना और मैत्रीभावना के साथ बिदा होइए, विकारो और वासनाओ की धूल यही झाड कर अपनी आत्मा को शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनाइए, यही मृत्युञ्जय मत्र है, यही मृत्युकला का रहस्य है और मरण-समाधि का उद्देश्य है ।

भारतीय संस्कृति

भारतीय सस्कृति में प्रारभ से ही त्याग और अपरिग्रह वृत्ति को महत्व दिया जाता रहा है। जहा पाश्चात्य संस्कृति मे धन-वैभव और वस्तुओ के सग्रह को अधिक बढ़ावा दिया जाता रहा है, वहा भारतीय संस्कृति सादगी, कष्टसहिष्णुता, त्याग और कम से कम सग्रह से आवश्यकताओ की पूर्ति पर अधिकाधिक जोर देती रही है। यहां बड़े से बडे वैभवशाली, चक्रवर्ती सम्राट् और धनकुबेर भी हुए पर भारतीय सस्कृति के उन्नायको ने कभी भी उच्चता का मूल्यांकन वैभव की दृष्टि से नही किया, उनके वैभव और धनसंग्रह के कारण उन्हें उच्च नही बताया, उन्हे ऊची-ऊची अट्टालिकाओ मे निवास करने और सुख-सुविधाए जुटाने के कारण कभी गौरवास्पद पद नही दिया। यहां तो उन्हीं व्यक्तियो को महत्व दिया गया है, उन्ही को गौरवास्पद दृष्टि से देखा गया है, जिन्होने अधिक से अधिक त्याग किया है, अपरिग्रहवृत्ति को अपनाया है। यही कारण है कि भारत के प्राचीन राजाओ को अपरिग्रहवृत्ति और सादगी से रह कर जीवन बिताने मे अधिक आनन्द की अनुभूति हुई है। धनकुबेरों को भी सिर्फ समाज के लिए समाज के धन-सरक्षक के रूप मे ही आदर मिला है। जिसने अधिक

संग्रह किया, जिसने दूसरो का शोषण कर के अपने सुखभोग के साधन जुटाए, जिसने सादगी और अपरिग्रहवृत्ति की उपेक्षा की उसके प्रति निन्दा और उपेक्षा ही भारतीय जन-जीवन के मन मे रही है। यहा प्राचीन काल मे जो आदर्श राजा और आदर्श मत्री हुए हैं, उनके जीवन को आप टटोलिए, उनमें आप त्याग और अपरिग्रहवृत्ति के प्रति ही विशेष झुकाव पायेंगे, वे निर्लिप्त भाव से वैभव के सरक्षक बन कर रहे, यही दृष्टि उनके जीवन मे आपको मिलेगी। सचमुच, इस त्याग और अपरिग्रह की वृत्ति मे उन्हें आनन्द मिलता था, उनके जीवन में सतोष का सुख उन्हें उपलब्ध होता था। उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए अधिकाधिक वैभव-वृद्धि की आवश्यकता प्रतीत नही होती थी। समाज को नैतिक प्रेरणा देने वाला, समाज का सिरमौर ब्राह्मण वर्ग भी त्याग और अपरिग्रह की मूर्ति बन कर अपनी जिन्दगी नि स्पृह और निश्छल भाव से बिताता था। तभी वह जनता के हृदयो पर शासन कर सकता था, जनता को अपना अगुलि-निर्देश कर सकता था। उससे भी ऊपर समाज से बिलकुल निर्लिप्त रह कर साधना करने वाले साधु वर्ग की प्रतिष्ठा और आदर सबसे ज्यादा था। उसका एक-एक वाक्य जनता के लिए ग्राह्य होता था और जनता उसे श्रद्धा से शिरोधार्य करती थी। समाज के लिए उसका त्याग, उसकी सादगी और अत्यल्प आवश्यकताओ से जीवन-निर्वाह अनुकरणीय थे। उसे भी सुख और सतोष था और जनता को भी उसके बताए हुए पथ पर चलने मे सतोष और शान्ति थी।

पराधीनता की काली चद्दर

किन्तु भारतवर्ष के दिन पलटे। यहा दूसरे देशो से अनेक संस्कृति के लोग आए। भारत ने उन्हे रहने और जीविकोपार्जन के लिए जगह दी, सभी तरह से उसने अपने अतिथियो का सम्मान किया। किन्तु उनके संसर्ग से भारतीय जन-जीवन को काफी हानि उठानी पडी। भारतीय जनता के त्याग और अपरिग्रहवृत्ति के सस्कार शनैः शनैः लुप्त होने लगे। भारतीय जनता मे स्वार्थवाद, भोग-लालसा और सग्रहवृत्ति के अकुर फूटने लगे, सघर्ष, शोषण और धनवृद्धि की लालसाए बरसाती नदी की तरह उमड़ने लगी। फल यह हुआ कि भारत ने अपनी शान्ति, सतोष, और सुख को अपने हाथों नष्ट किया; पराधीनता की वेड़ियो मे भारत जकडा गया; जातिवाद और सम्प्रदायवाद के पिशाचो ने उसके स्वार्थ को चौगुना कर दिया; पारस्परिक फूट, स्वार्थवृत्ति और संग्रहवृत्ति ने भारत को निःसत्त्व बना दिया। भारत की त्याग और अपरिग्रह की शक्ति को भोग और स्वार्थवृत्ति के हथियारो ने नष्ट कर दी। इस प्रकार भारतवर्ष, जो आध्यात्मिकता के पथ पर अग्रसर था, सुख की नीद सोता था, संतोष की सांस लेता था, प्रतिस्पर्द्धा और सघर्ष से दूर था, उसके रग मे भग हो गया और उसकी स्वाधीनता, स्वतंत्रता और सादगी के दिनों पर परतन्त्रता की काली अधेरी रातें छा गईं और वर्षों तक वह पराधीनता की काली चादर ओढ़े सोया रहा।

परतंत्रता का मुख्य कारण

अगर भारतवर्ष मे अपरिग्रह वृत्ति होती, एक दूसरे के

लिए परस्पर त्याग करने, सहन करने और सहयोग देने की वृत्ति होती, सग्रहलालसा, तृष्णा और राज्यलिप्सा की ओर उसका मुख न मुडता तो शायद ही उसे ये दिन देखने पड़ते। किन्तु आज भारत सदियो की गुलामी की चक्की मे पिस कर सत्त्वहीन हो गया है। स्वतत्रता प्राप्त होने पर भी भारत मे वह ज्ञान और वह उच्च सस्कार अभी तक नही आ पाए हैं। इसका मूल कारण यदि देखा जाय तो अपरिग्रह और त्याग की वृत्ति का कम होना ही ज्ञात होता है।

सघर्ष का कारण

वैज्ञानिक आविष्कारो ने सारे संसार को एक नया मोड़ दिया है, संसार की सुख-सुविधाएँ बढाई हैं, दु ख-दारिद्रय दूर करने का दावा किया है, पन्तु वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण सुख-साधनो का ढेर लग जाने पर भी मनुष्य मे त्यागवृत्ति, अपरिग्रहवृत्ति या सतोष न होने के कारण आपसी सघर्ष भी कम नही वढ़े हैं।

आनन्द की लहरें

भगवान् ऋषभदेव के युग मे, जब कि मानव जाति अपना जीवनयापन प्रकृति की अल्पतम वस्तुओ से करती थी, सुख-सुविधा के साधन नही बढे थे, तब कितनी शान्ति और सुख था ? मेरा तात्पर्य यह नही हैं कि मनुष्य को अनिवार्य आवश्यकताओ के बारे मे निरपेक्ष रहना चाहिए या अनिवार्य साधनो की पूर्ति के लिए परावलम्बी बनना चाहिए अथवा विज्ञान के आविष्कारो को ठुकरा कर उसी पुराने यौगलिक

युग मे ही लौट जाना चाहिए। यह तो आज के मानव के लिए असम्भव-सी बात होगी, अस्वाभाविक और अव्यवहार्य भी होगी। परन्तु हमारा यह कहना है कि मनुष्य वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करते समय दूसरो की जिन्दगियो का भी ध्यान रखे, दूसरो की आवश्यकताओं पर भी तवज्जह दे, दूसरो के लिए साधन मुहैया होने का भी विचार करे और अपनी आवश्यकताओ, सुख-साधनों और वस्तुसग्रह मे काफी कटौती करे। सभी चीजो का उपभोग स्वयं या अपने कुटुम्ब के ही करने की लालसा या तृष्णा न करे। क्योकि ज्यो-ज्यो मनुष्य सुखसुविधाएँ अधिकाधिक जुटाने के लिए वैज्ञानिक साधनो को ग्रहण करना चाहेगा, त्यो-त्यो उसे पैसे का अधिकाधिक संग्रह करना होगा और पैसे का अधिकाधिक सग्रह करने के लिए वह दूसरो की जिदगियों की परवाह न कर के शोषणवृत्ति अपनाएगा, अपने समय और शक्ति को अधिकाधिक खर्च करेगा, तब उसके जीवन का वास्तविक आनन्द और सुख हवा हो जायेंगे। चिन्ताएँ और धन-लालसा की गुलामी उसे घेर लेगी, फलत. वह आध्यात्मिकता से दूरातिदूर होता जायेगा। धन-सग्रह की वृत्ति के साथ ही उसमे असत्य, बेईमानी, विलासिता, हिसा, शोषण, छल-कपट आदि अनेक दुर्गुण अपना अड्डा जमा लेगे और समाज के सुखमय जीवन को भी वह विषाक्त कर देगा। समाज में शासक और शासित, शोषक और शोषित, हुजूर और मजूर, धनी और अमीर, इस प्रकार के अनेक वर्ग खड़े हो जायेंगे। समाज मे ईर्ष्या, द्वेष,

सघर्ष, कलह, कदाग्रह आदि अनेक दुर्गुण-दैत्यो का उत्पात मच जायेगा ।

इसलिए हमारे भारतीय ऋषि-मुनियों ने 'अपरिग्रहवृत्ति' का जो मत्र दिया है, उसे जीवन में अपनाते हुए चला जाय तो व्यक्ति का जीवन भी आनन्दमय होगा और समाज के जीवन मे भी आनन्द की लहरें उठेगी ।

सच्ची विजय

अपरिग्रह वृत्ति समाज और व्यक्ति, राष्ट्र और जाति, नगर और गाँव, प्रान्त और प्रदेश सभी के लिए आनन्ददायिनी है। वैज्ञानिक साधनो या अन्य सुविधाओ पर जब अपरिग्रह वृत्ति का अकुश होगा, तो समाज मे हाहाकार नही मचेगा, विषमता नही फैलेगी, दुःख-दैन्य की पीड़ा किसी को नही सताएगी, स्वार्थो का सघर्ष कम होता जायेगा, ईर्ष्या, द्वेष और वैर की वृत्ति भी धीरे-धीरे समाप्त होती जायेगी। समाज मे परस्परावलम्बन और पारस्परिक सहयोग की भावनाएँ उमड़ेंगी। 'सब में मैं और मेरे मे सब' इस सिद्धान्त का सूर्योदय होगा, द्वैतवाद की काली घटाएँ मिट जायेगी, आत्मीयता का प्रचुर प्रचार होगा। इसी मे भारतीय जनता की सच्ची विजय है, सच्चे सिद्धान्त की जीत है।

शान्ति का वरदान

अपरिग्रह वृत्ति मानव समाज के लिए सुख और शान्ति का वरदान ले कर आई है। अपरिग्रह वृत्ति सारे संसार में छाई हुई विषमता, अनैतिकता और सग्रहलालसा के अंधकार को दूर करने के लिए प्रकाश का काम करती है। अपरिग्रह वृत्ति विश्व के सभी प्राणियो को आनन्द से जीना सिखाती है।

अपरिग्रह वृत्ति निर्भयता, नि.शकता का प्रवेश-द्वार है। अपरिग्रह वृत्ति सतोष के सुरम्य उद्यान मे मनुष्य को विश्रान्ति देने वाली है। अपरिग्रह वृत्ति विषमता के कीटाणुओं को, स्वार्थ-वृत्ति के क्षय के कीड़ो को समाप्त करने वाली है। अपरिग्रह वृत्ति प्रत्येक राष्ट्र, समाज, गाँव, नगर, प्रान्त और जाति मे आध्यात्मिकता का बीजवपन करने वाली है। अपरिग्रह वृत्ति आज के युग मे वर्गसघर्ष, वर्गभेद, जातिभेद, सम्प्रदायभेद आदि सभी भेदो की जड़ हिलाने के लिए अनिवार्य है। अपरिग्रह वृत्ति मे जो सुख है, जो आनन्द है, जो आध्यात्मिक आह्लाद है, वह स्वर्गीय देवो को भी नसीब नही, बड़े-बड़े चक्रवर्त्तियो और धनकुबेरो को भी मयस्सर नही। सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, और अन्तर्राष्ट्रीय उन्नति और उत्क्रान्ति के लिए भी आज अपरिग्रह वृत्ति की नितान्त आवश्यकता है।

परिग्रह : एक अभिशाप

जहाँ परिग्रह वृत्ति का बोलबाला होता है, वहाँ मनुष्य अनेक शकाओ और भयो से आक्रान्त रहता है, अनेक चिन्ता-चक्रो मे फँसा रहता है। परिग्रह वृत्ति जीवन के लिए एक अभिशाप है। जहाँ भी यह वृत्ति अधिक होती है, वहाँ जनता का जीवन अशान्त हो जाता है। अकर्मभूमि के जमाने मे यौगलिक जनता मे सग्रहवृत्ति नही थी, सभी यथालाभ संतुष्ट थे, किन्तु जनसख्या बढने के साथ-साथ जनता की आवश्यकताएँ बढने लगी, जितना प्रकृति से मिलता था, उतना पर्याप्त नही होता था। फलत यौगलिक लोगों मे सग्रह करने की,

अधिकार जमाने की, अपनी-अपनी ममत्व-वृत्ति बढ़ाने की लालसाएँ पैदा हुईं। आपस मे एक-एक चीज के उपयोग के लिए तू-तू, मैं-मैं होने लगी, संघर्ष बढ़ने लगा और इस प्रकार यौगलिक लोगो का शान्त जीवन अशान्त हो गया। परिग्रह वृत्ति के जाल मे फँसने से उनका जीवन दु.खी हो गया। उन्हें परिग्रह वृत्ति मे अपने जीवन की सुखशान्ति नजर नही आने लगी और वे भगवान् ऋषभदेव के पास गए। उन्होने उन्हें श्रम-साधना बताई और अपरिग्रह वृत्ति से रहने की कला सिखाई, जिससे जीवन सुखशान्तिपूर्वक व्यतीत होने लगा।

भारतवर्ष और अपरिग्रह

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जहाँ मनुष्य मे परिग्रह वृत्ति आई नही कि दु:ख का सैन्यदल टूटा नही। परिग्रह वृत्ति से जीवन दु.खमय हो जाता है, इसमे कोई सन्देह नही। भारतवर्ष एक ऐसा पुण्यशाली देश है कि यहाँ एक से एक बढ़ कर त्यागी, एक से एक बढ़ कर निष्परिग्रही, निर्लोपी सत, महंत, ऋषि-मुनि, राजा और ब्राह्मण हुए हैं। हजारो वर्षो से भारत मे अपरिग्रह वृत्ति का आदर्श चलता रहा। परन्तु आज भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि वह अपने उन मूल संस्कारो से वञ्चित हो कर विचारो से दरिद्र हो बैठा है। जहाँ मर्यादापुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी कृष्ण, महात्मा बुद्ध, भगवान् महावीर, शकराचार्य आदि महान् से महान् त्यागी पुरुष, निष्परिग्रही पुरुष आए और उन्होने जनता को अपरिग्रह वृत्ति का सदेश दिया। भगवान् महावीर से ले कर महात्मा गाँधी तक अनेको त्यागी, मुनि, और निस्पृही व्यक्ति हुए है। आज भी सैकड़ो त्यागमूर्त्ति

जैन भिक्षु भारत के एक छोर से ले कर दूसरे छोर तक नंगे पैर पैदल भ्रमण करते है, गांव गाव मे अपरिग्रहवृत्ति की प्रेरणा देते हैं। राष्ट्रीय सत विनोबा जो गरीबों का मसीहा बन कर दरिद्रनारायण की सेवा के लिए अपरिग्रहवृत्ति से भारत मे भ्रमण कर रहे है। इतना अपरिग्रहवृत्ति का उपदेश, प्रेरणा, विचार, बीजारोपण होने पर भारतवर्ष क्यों दिनोदिन परिग्रहवृत्ति, सग्रहवृत्ति और भोगवाद की ओर तेजी से बढता जा रहा है ? कुछ समझ मे नही आता ! क्या उन सभी महात्माओ के वचनामृतो को भारत ने वमन कर दिया है, या मुद्गशैलिक पर्वत की तरह अपने पर अपरिग्रहवृत्ति के सदेश-वारि की एक भी बूद नही टिकने देता ?

एक ज्वलत प्रश्न

सचमुच, भारत के सामने यह एक ज्वलन्त प्रश्न आ रहा है कि अपरिग्रहवृत्ति को अपनाना है या परिग्रहवाद को ? दोनो मे एक ओर का फैसला भारत को शीघ्र करना होगा। क्या वह वैभव के समुद्र मे डुबकिया लगाने वाले अमेरिका से होड़ करना चाहता है या अपनी प्राचीन सस्कृति को सुरक्षित रखते हुए, यथोचित वैज्ञानिक साधनो का उपयोग करते हुए अपरिग्रहवृत्ति द्वारा अपना जीवनयापन करना चाहता है ? अमेरिका जैसा धनकुबेर देश, जिसकी भौतिक उन्नति को सुन कर हम हर्ष से गुदगुदाने लगते हैं। अमेरिका आज अपनी कल्पनातीत धनराशि के बल पर सारे ससार पर छा जाना चाहता है। हमारे राष्ट्रीय नेताओं के भी, अमेरिका को देख

कर मुंह मे पानी आने लगा है। परन्तु अमेरिका की जनता के जीवन को देखेगे तो आप दांतो तले अगुलि दबायेगे। अमेरिका के पत्रो के कुछ आकडे यह तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि अमेरिका मे ६० लाख व्यक्ति मानसिक व्याधियों से सत्रस्त हैं तथा १५ लाख व्यक्ति बुद्धिहीनता से पीड़ित हैं। वहां १ करोड़ ७० लाख व्यक्ति ऐसे है, जिनका सतुलन ठीक नही है। अमेरिका के प्रति १२ बच्चो मे से १ बच्चा प्रतिवर्ष किसी न किसी भयकर मानसिक रोग से पीड़ित होता है। गत महायुद्ध मे अमेरिका मे १ करोड़ ४० लाख आदमियों की जांच की गई थी, जिनमे केवल २० लाख ही सेना मे भर्ती के योग्य पाए गए। वहां प्रति २०० व्यक्तियो मे से एक व्यक्ति पागल हो जाता है। १५ और इससे ऊपर की आयु के प्रति १ हजार आदमियो मे से ७६ को कोई न कोई साधारण बीमारी है। आजकल अमेरिका में २ करोड़ ५० लाख लोग यानी सारी जनसख्या के छठे से भी अधिक किसी न किसी बीमारी से पीड़ित हैं। ५५ साल की आयु के वाद प्रति ८ पुरुषों मे १ और प्रत्येक १४ महिलाओ मे एक की मृत्यु कैंसर से होती है। लगभग १७।। लाख गंभीर अपराध वहां प्रति वर्ष किये जाते है। लगभग ५० हजार लोग शराब पीने के आदी है। धूम्रपान तो वहां का आम रिवाज ही वन गया है। प्रतिवर्ष १७ हजार व्यक्ति आत्महत्या करते है। प्रतिवर्ष होने वाले प्रति ४ विवाहो के पीछे एक तलाक होता है। प्रति ७ से १७ वर्ष की आयु के करीव २ लाख ६५ हजार अपराधी वच्चे अदालत मे पेश किये जाते है। अमेरिका मे फैशन की महामारी तो इतनी वढ़ गई है कि

आज जो नई कार खरीदी जाती है वह कुछ दिनो बाद रद्दी समझी जाती है और उसकी जगह नई डिजाइन की दूसरी कार खरीदी जाती है। इस प्रकार पैसा अन्धाधुन्ध विलासिता मे खर्च किया जाता है। यह है आधुनिक सभ्यता के और भौतिकवाद के गुरु एव परिग्रहवाद के शिरोमणि अमेरिका का नग्न चित्र, जिसकी कल्पना मात्र से दिल दहल जाता है। लेकिन इतना होने पर भी हमारे नेता और भारत के पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त लोग अमेरिका को अपना उस्ताद मान कर उसके पद-चिह्नो पर चलने मे गौरव का अनुभव करते है।

परिग्रह की चकाचौंध

हा, तो आप सोचिए जहा परिग्रहवृत्ति का बाजार गर्म होता है, वहा मनुष्य का जीवन कितना पतन की ओर, मानसिक अधोदशा की ओर चला जाता है! परिग्रह की चकाचौध मे और विविध विलासपूर्ण वस्तुओ के ढेर में मनुष्य मनुष्यता को किस प्रकार भूल जाता है, इसके लिए एक जीती-जागती घटना लीजिए—सर्वोदय के प्रसिद्ध तत्त्वप्रचारक दादा धर्माधिकारी ने अपने जीवन मे आंखो देखा एक प्रसग 'सर्वोदय' मासिक मे दिया है—

कोई ३० साल पहले की बात है। एक रियासत की राजधानी मे शहर से बाहर सुन्दर बगीचे मे बसा हुआ एक राजमहल देखने हम गये। वहां की एक-एक चीज अनुपम और दर्शनीय थी। हाथीदांत के पलग, सुन्दर शीशे, चादी से मढी हुई कुसियां और कोच। उस वैभव का वर्णन कौन

करे ? लेकिन उसमे मनुष्यता का स्पर्श नही था। महल के मालिक के स्पर्श की कोई निशानी नही थी। दफ्तर के बाबू से पूछा—"यह महल किसका है ?" कुछ लोग हँस कर बोले—"महाराज का है और किसका है ?" मैंने पूछा—"महाराज इसमे कभी रहते है ?" उन्होने कहा—"नही।" "तो फिर इसमे कौन रहता है ?" मैंने कहा। वे बोले—"कोई नही।" "तुम लोग कहां रहते हो ?" मैने पूछा तो वे बोले—"अपने-अपने घरो मे !" "फिर यहा क्यो आते हो ?" मैने कहा। उन्होने कहा—"इसीलिए कि यहा कोई रहने न पावे, इन शीशो मे कोई देखने न पावे, इन मचको पर कोई सोने न पावे, इन कुर्सियो पर कोई बैठने न पावे। इसी काम के लिए हमको तैनात किया गया है और इसी काम के लिए हमको तनख्वाह मिलती है।" उस समय यह बात कुछ अटपटी-सी जरूर लगी लेकिन स्वाभाविक भी मालूम हुई।"

अपने पैरों पर कुल्हाड़ी

आज की दुनिया मे उपकरण जुटाए जा रहे हैं, सुख के साधन इकट्ठे किए जा रहे हैं, रोज नई-नई सामग्रियो का उत्पादन बढाया जा रहा है, 'इच्छाओं को बढाओ, रहन-सहन के स्तर (Standard of living) को बढाओ' का नारा एक वर्ग की ओर से लगाया जा रहा है, और मानो आवश्यकताएँ बढाने से ही सुख-वृद्धि की अजस्र धारा बहने लगेगी, इस प्रकार का ठेका ही पाश्चात्य देशो ने ले लिया हो, ऐसा लग रहा है। मनुष्यो के एक गिरोह को यह फिक्र है कि कही उन साधनो का उपयोग दूसरा न कर ले, इसलिए हर व्यक्ति अपना

ममत्व गहरा से गहरा स्थापित करने मे लगा हुआ है, पर इससे भी सुख कहां ? शान्ति कहा ? आनन्द कहां ? जीवन की सच्ची मुस्कान कहां ? परिग्रहवृत्ति के चक्कर मे पड़ कर मनुष्य अपने पैरो पर स्वयं ही कुल्हाडी मार रहा है। वह यही सोच रहा है कि मुझे आनन्द आ रहा है, झूठे आनन्द को ही वह सच्चा आनन्द मानने का गौरव समझ रहा है।

कुत्ते और हड्डी

उपनिषद् के एक प्रसिद्ध ऋषि उद्दालक एक दिन अपनी मस्ती मे बैठे थे कि सामने से एक कुत्ता मुंह मे हड्डी लिये भागा जा रहा था। उसके पीछे कई कुत्ते दौड़ रहे थे, गुर्रा रहे थे, हड्डी को झपटने के लिए आतुर हो रहे थे। आगे वाला कुत्ता हाफ रहा था, घबरा रहा था, लोहूलुहान हो रहा था, फिर भी हड्डी को छोड़ नही रहा था। आखिरकार उसने दूसरे कुत्तो से पिण्ड छुडाने के लिए हड्डी के टुकड़े को वही डाल दिया और बेतहाशा जान बचा कर भागा। अब उस पहले वाले कुत्ते को शान्ति थी, परन्तु जिसने उस हड्डी को ग्रहण की उस पर आफत आ पड़ी। इस प्रकार सभी कुत्ते आपस मे लड़-झगड़ कर भाग गए। हड्डी को बीच मे ही किसी उड़ती चील ने झपट ली और ले उडी। उद्दालक यह देख कर अपने शिष्य से कहने लगे—"वत्स, अपरिग्रहवृत्ति मे, त्याग मे जो सुख व शान्ति है, वह ग्रहण मे, परिग्रह मे कदापि नही है।" जहा परिग्रह है, वहा मनुष्य भयाक्रान्त रहता है। उसे बराबर यह भय बना रहता है कि कही इसे कोई ले न जाय, दूसरा इसका उपभोग न कर बैठे। यद्यपि मनुष्य यह सोच ले कि दूसरा भी

उपयोग करे तो मेरा क्या बिगडता है ! वह भी तो मेरा भाई है, सजातीय है ! पर परिग्रहवृत्ति वाले मनुष्य का हृदय इतना विशाल कहा कि वह अपने में सारी मनुष्य जाति क्या ब्रह्माण्ड के प्राणियो को समा ले !

भय का कारण

एक बार गोरखनाथ और मच्छदरनाथ किसी सूने जगल मे हो कर चले जा रहे थे। जंगल जन-शून्य था। गुरु मच्छदरनाथ अपने साथ एक सोने की ईंट लिए आ रहे थे, उसे एक थैली मे बड़े जतन से रख छोड़ी थी। थोडी देर आगे चले तो वे अपने शिष्य गोरखनाथजी से कहने लगे—"गोरख, भय है !" गोरखनाथजी ने कहा—"गुरुजी, हमे क्या भय है ? जिसके पास माया हो उसे भय है ?" आगे एक कुआ आया तो मच्छदरनाथ वह थैला एक जगह रख कर और शिष्य को सौंप कर शौच के लिए गए। पीछे से गोरखनाथजी ने थैली खोली और देखा तो सोने की ईंट ! सोचा—"गुरुजी को इसी कारण भय लग रहा था !" उसने उस ईंट के बराबर पत्थर ले कर झोली मे डाल लिये और वह सोने की ईंट कुए मे डाल दी। गुरुजी को कुछ भी शंका नही हुई—वे शौचादि से निवृत्त हो कर आए तो तुरत वह झोली उठा कर चल दिये। रास्ते मे चलते-चलते वे फिर कहने लगे—"गोरख, भय है ?" गोरखनाथजी बोले—"गुरुजी, भय तो गया कुए मे ! अब काहे का भय है ?" मच्छदरनाथजी ने यह सुनते ही सशक हो कर थैली खोल कर देखा तो उसमे पत्थर पड़ा था। उन्होने चेले की करतूत समझ

कर उस पत्थर को तो वही डाल दिया और अब निर्भय हो कर चले।" एक ऋषि ने कहा है—

'परिग्रहो हि महाभयम्'

'परिग्रह स्वय महाभयरूप है ।'

सुख का मूल मत्र

जहाँ परिग्रह है वहाँ वास्तविक सुख नही है, सुखाभास है। सच्चा सुख वही होता है जो स्वाधीन सुख है। 'सर्वमात्म-वश सुखम्' जो अपने वश की चीज है, वही सुख है। जहाँ वस्तुओ, मे किसी मान्यता मे, अमुक विचारधारा मे, अमुक सम्बन्धी मे सुख की कल्पना की जाती है वह सारी मृगतृष्णा की तरह पराश्रित है। वह वस्तु, वह सम्बन्धी खत्म हो जाय या दूसरों को मिल जाय तो सुख रफूचक्कर हो गया।

ग्रीक तत्ववेत्ता सोलन के पास एक दु खी मनुष्य आया और उसने कहा—"मैं सुख चाहता हूँ, आपसे सुख की याचना करने आया हूँ।" सोलन ने कहा—"भाई, मेरे पास सुख नही है, मैं तुम्हे सुख का मार्ग बता देता हूँ।" परन्तु उसने तो हठ पकड़ ली और कहा—"मुझे तो लोगो ने आपका नाम बताया था कि आपके पास सुख है, फिर मुझे निराश क्यो कर रहे हैं?" सोलन बोला—"अच्छा, एक काम करो। जाओ, तुम्हें कोई भी सुखी आदमी लगे, उसका पहनने का कपड़ा ले आओ, फिर मैं तुम्हें सुख दे दूगा।" आगन्तुक व्यक्ति यह सुन कर खूब प्रसन्न हो गया। बोला-"ओ हो! इसमे क्या है? अभी ले आता हूं। दुनिया मे बहुत से सुखी हैं!" यो कह कर वह

भागा-भागा एक शहर मे पहुँचा। वहां वह एक अति धनाढ्य व्यक्ति के घर पहुचा। पर वहां क्या देखता है—धनी व्यक्ति के पास अपार सम्पत्ति होते हुए भी घर मे पत्नी से नित्य क्लेश होने के कारण वह दुःखी था। वह उस घर को छोड़ कर दूसरे धनिक के यहां पहुंचा तो उसके यहा सभी ठाठबाट थे, लेकिन उसके शरीर मे एक पाजी बीमारी लगी हुई थी, इसके मारे परेशान था। वह वहां से तीसरी जगह गया, पर वहां भी भाइयो मे आपसी बंटवारे का झगड़ा चल रहा था। इस तरह वह कई जगह भटका, पर उसे कही भी कोई सुखी नही मिला। कोई न कोई दु.ख सभी के जीवन मे था। अन्त में वह निराश हो कर वापस लौट रहा था कि किसी ने उससे एक आदमी का नाम पता बताया और कहा कि वह बड़ा सुखी है। दुखिया उसके पास भी जा पहुंचा। उसके जीवन मे सुख का साक्षात्कार तो उसे हुआ पर उसके शरीर पर कपड़ा था ही नही; वह मागे क्या? अन्ततोगत्वा वह एक योगी के पास गया। योगी ने उसकी व्यथा सुन कर कहा–"भाई, जगत यो ही है। जहा परिग्रह है, वहां सुख है ही नही। सुख मांगने से नही मिलता है, वह तो हमे स्वयं पैदा करना पड़ता है। इसका निवासस्थान अन्तर मे है। अगर अन्तर मे अपरिग्रहवृत्ति आ जाय, निर्लोभता आ जाय, नि.स्पृहता, निर्ममत्व और निर्द्वन्द्वता आ जाय तो सुख का खजाना खुल सकता है।

हां, तो जहां परिग्रहवृत्ति होती है वहां कोई न कोई

दुख., कोई न कोई चिन्ता, कोई न कोई रोग-शोक लगा ही रहता है। वह मनुष्य निर्द्वन्द्व, निःस्पृह, शान्त और सुखी नही बन सकता। अपरिग्रहवृत्ति ही सुख का मूल मत्र है।

परिग्रह क्या है ?

परिग्रह की परिभाषा

परिग्रह-वृत्ति का अर्थ केवल किन्ही वस्तुओं को ग्रहण कर लेना ही नही है। अगर ग्रहण कर लेने मात्र से परिग्रह हो जाय तो एक साधु अनेक जगह घूमता है, अनेक स्थानो को ग्रहण करता है, अपने जीवन-धारण के लिए अनेक वस्तुओ को स्वीकार करता है, वह भी परिग्रह हो जाय। किन्तु निष्परिग्रह-शिरोमणि भ० महावीर ने इसे परिग्रह नही कहा। परिग्रह कहां है और कहां नही, इसका निर्णय देते हुए शास्त्रकारो ने कहा है—

"जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥"

—दशवैकालिक

वस्त्र, पात्र, पादप्रोछन, कबल, रजोहरण या अन्य जो भी उपकरण निर्ममत्त्व मुनि संयम यात्रा के लिए या लज्जा निवारण के लिए धारण करते हैं या प्रयोग करते हैं, उसे प्राणि मात्र के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने परिग्रह नही बताया है, किन्तु उस महर्षि ने मूर्छा ही परिग्रह है, ऐसा कहा है।

तात्पर्य यह कि जिस वस्तु को मोह-बुद्धिवश, आसक्ति-पूर्वक ग्रहण की जाय वह परिग्रह है चाहे वह वस्तु सजीव हो या निर्जीव हो। एक आचार्य ने यही बात कही है—

"परि समन्तात् मोहबुद्धया गृह्यते स परिग्रहः"

इसलिए परिग्रह का सीधा सम्बन्ध किसी पदार्थ से न होकर आत्मा से है। किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु पर, यहां तक कि अपने शरीर पर, या अपने विचारो, मान्यताओ, सम्प्रदाय, परम्पराओ आदि मे से किसी पर भी आसक्ति आत्मा में पैदा हुई तो परिग्रहवृत्ति आ गई। पदार्थ का सग्रह केवल आत्मा की गृद्धि विषयक भावना का एक स्थूल कार्य मात्र है, क्योंकि उस का कारण परिग्रहवृत्ति विद्यमान है। जिसकी मूर्छा, ममता, गृद्धि या आसक्ति जितनी ही तीव्र होगी, वह उतना ही अधिक सग्रह करने की मन मे लालसा रखेगा, विचार दौड़ायेगा। सग्रह कर सकेगा या नही, यह व्यक्ति की या समाज की तत्कालीन परिस्थितियो पर अवलम्बित है। यदि कोई प्राणी सग्रह कर नही सकता, किन्तु तद्विषयक भावना बनी हुई है तो वहा अपरिग्रह नही है। कीडी, कुत्ते, बिल्ली, गाय आदि तिर्यञ्चो के पास बाह्य दृष्टि से देखे तो कुछ भी सग्रह नही है, किन्तु मन मे उनके संग्रह की वृत्ति बनी हुई है तो परिग्रहवृत्ति ही कहलाएगी, अपरिग्रहवृत्ति नही। अपरिग्रह-वृत्ति मे भावना को पहला स्थान है, पदार्थ को दूसरा। बाहर से वस्तुओं का त्याग कर दिया किन्तु अन्तर्मानस मे उन वस्तुओ को पाने की आकाक्षा बनी हुई है मगर पा नही सकता तो

यह त्याग नही है, अपरिग्रहवृत्ति नही है। भगवान् महावीर के शब्दों मे—

"वत्थ गंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चई॥"

—दशवै. अ. ३, गा.

जो सुन्दर वस्त्रों, सुगन्धित पदार्थो, आभूषणो, रमणीय रमणियों, सुकोमल शय्याओं को स्वाधीन न होने के कारण प्राप्त नही कर सकता, अतः इनका उपभोग नही करता है, इसलिए उसे त्यागी नही कहा जा सकता। त्यागी वह है, निष्परिग्रही वह है जो मनोहर वस्तुए प्राप्त हो सकती हैं, उसके अधीन है, फिर भी स्वेच्छा से ठुकरा देता है, त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी है। जो स्ववशता से सग्रह की आत्मगत भावना को शान्त करके वस्तु को छोड़ता है, वह उस वस्तु के अनायास प्राप्त होने पर भी स्वीकार नही करता।

स्वेच्छा से त्याग

रूस में जब अकाल फैला हुआ था, चारो तरफ जनता मे 'त्राहि-त्राहि' मची थी। इस असह्य दुःख को देख कर महात्मा टॉल्स्टाय ने स्वेच्छा से गरीबी धारण की, वे अपरिग्रहवृत्ति धारण करके जीने लगे। बाह्य दृष्टि से देखने में तो क्या हुआ? गरीबो की संख्या मे एक आदमी और बढ़ गया! लेकिन अन्तर्दृष्टि वाले यहां दूसरी दृष्टि से सोचते हैं। अर्थशास्त्रियो की स्थूल दृष्टि मे आन्तरिक त्याग का, आत्मा की स्वैच्छिक दरिद्रता स्वीकार करने का कोई मूल्य नही। पर टॉल्स्टाय ने

ऐशो-आराम मे डूबे हुए उन हजारो मनुष्यों को फाकेकशी का तथा उनके मूलभूत अन्याय का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन कर दिया।

महात्मा गाधी को किस बात की कमी हो सकती थी ? कौनसे अभाव ने उन्हे बाध्य किया था कि वे सादी सीधी लगोटी लगा कर स्वेच्छा से गरीब बने, दरिद्रनारायण हुए ? वे चाहते तो ऊचा से ऊचा वेतन मिल सकता था, अच्छे से अच्छे ऐशो-आराम के साधन प्राप्त हो सकते थे, रेल में सफर करते समय उन्हे फर्स्टक्लास का टिकट मिल सकता था, रेशमी या बारीक मलमल के कपड़े मिल सकते थे, लेकिन इन सब को ठुकरा कर उन्होने अपनी मर्जी से गरीबी स्वीकार की, सादगी अपनाई, सयम किया, केवल भारत की आत्मा को गुलामी की पीड़ा से कराहते देख कर ! अग्रेजो के अत्याचारो, अन्यायो व शोषणो की चक्की मे पिसते देख कर ! भारत माता का वह प्यारा लाल माता के इस असह्य दुःख को सहन नही कर सका। भारत माता दुखिया है, अधनगी और अध-भूखी है, शोषित और पीड़ित है, यह सोच कर ही तो गांधीजी ने वॉयसराय से मिलते समय भी अपनी वही सादी लंगोटी पहने रखी। भारत की दरिद्रता को मिटाने के लिए ही उन्होने अपरिग्रहवृत्ति अपनाई। भगवान् महावीर से लेकर आज तक हजारो जैन-श्रमण व श्रमणियाँ स्वेच्छा से गरीबी का व्रत लेकर घूम रहे हैं, वह किसलिए ? दुनिया के सामने अपरिग्रहवृत्ति के आनन्द का आदर्श रखने के लिए ही तो ! ससार को असली सुख-शान्ति की चाबी बताने के लिए ही तो !

परिग्रह वृत्ति का राज्य

हां तो, मैं कह रहा था कि आज दुनिया मे परिग्रहवृत्ति का राज्य चारो ओर दिखाई दे रहा है, जिसके कारण शोषण, हत्याएं, मारकाट, युद्ध और महायुद्ध तक हो रहे हैं। परिग्रह-वृत्ति के कारण ही एक देश दूसरे देश को हथियाने और उसके बाजारो पर अपना कब्जा जमाने की कोशिश करता है। परिग्रहवृत्ति इतनी भयंकर है कि वह मनुष्य मे मनुष्यता नही रहने देती, अपने सहोदर भाई और बहिन तक परिग्रहवृत्ति वाले व्यक्ति को अपने जानी दुश्मन से लगने लगते हैं। दूसरे देशों की जो साम्राज्य-लिप्सा बढी हुई है, एक ही राष्ट्र मे जो आन्तरिक दंगे हो रहे हैं, वे सब परिग्रहवृत्ति रूपी विषबेल के ही जहरीले फल हैं जो बाहर से बहुत सुन्दर और सुरम्य दिखाई देते हैं, लेकिन उसका परिणाम मारणान्तिक है। मनुष्य जब परिग्रहवृत्ति अपने जीवन मे अपना लेता है तो उसे प्रत्येक वस्तु अपनी ही दिखाई देने लगती है, वह रात-दिन इसी फिराक मे रहता है कि किसी तरह से वह वस्तु मेरे ही अधीन रहे, मेरे कब्जे मे आजाए। वह जब उससे छूटती दिखती है, उसका वियोग होने लगता है, उस वस्तु का विध्वंस होने लगता है तो उसे ऐसा लगता है मानो मेरा ही कोई सर्वनाश हो रहा हो और जब वह उस वस्तु पर से अपनापन हटा देता है, ममत्त्व छोड़ता है तो उसे उसकी कोई परवाह नही रहती।

ममत्व

कल्पना कीजिए एक आदमी ने दस हजार रुपये मे एक

मकान खरीदा। मकान खरीदने से पूर्व उस मकान की उसे कोई परवाह या चिन्ता नही थी, लेकिन खरीदने के बाद उसमे उस के 'मेरेपन' की छाप लग गयी और वह उस मकान को किराये दे देता है। किरायेदार उस मकान को तोड़ते-फोड़ते हैं, या जरासा खराब करते हैं तो उसे ठेस पहुचती है, यहां तक कि किरायेदार के बालक उसमे जोर जोर से दौड़ते है, खेलते हैं तो उसे धक्का पहुंचता है, वह उन्हे रोक-टोक करता है, यहां तक कि मनुष्यता के खिलाफ व्यवहार भी कभी-कभी किरायेदारो के साथ कर बैठता है। अब सयोगवश उसने दूसरे ही महीने में उस मकान को दस हजार मे बेच डाला और अब उसकी तिजोरी मे वे दस हजार रुपये आ गए, अब चाहे वे भूतपूर्व किरायेदार उस मकान को तोड़े-फोड़ें कुछ भी करें, उससे कोई वास्ता नही, क्योकि अब उसकी ममता मकान से बदल कर रुपयो मे आ अटकी है। मकान पर से उसका मन उठ गया है। और मानलो, वह किसी दूसरे आदमी को वे दस हजार रुपये ऋण के रूप मे दे देता है और कुछ ही दिनो बाद वह सुनता है कि वह आसामी फेल होने वाली है, रुपये डूब जाने वाले हैं तो उसके हृदय की धड़कन बढ जायगी, वह मन ही मन भगवान् से मनौती करने लगेगा, —"भगवान् ! किसी तरह मेरे रुपये घर मे आ जाय तो अच्छा !" और उसकी प्रार्थना स्वीकृत होकर तीसरे ही दिन दस हजार रु० के नोट उसके हाथो आ गए तो अब उसकी ममता उक्त आसामी से हट कर नोटो पर चिपक गई। वह आसामी (कर्जदार) अब मरे चाहे जीए, इससे उसे अब क्या

मतलब ! और कल को नोटों का बडल चोरी हो गया तो फिर उसका रोना-धोना शुरू हो जायगा। मतलब यह कि, परिग्रहवृत्ति कस्तूरिका मृग की तरह बराबर इस प्रकार के नाच नचाती है, सुख की मृगतृष्णा मे वह इधर से उधर भटकाती है, पर जब तक परिग्रहवृत्ति—ममता का पल्ला वह नही छोडता, तब तक उसका सुख एक स्वप्न की वस्तु ही रहता है। उसके मन मे ममता के कारण असंतोष और अशान्ति की आग भड़कती रहती है, वह परिग्रहवृत्ति का पर्दा पड़ जाने के कारण अच्छे उपदेश का भी श्रवण नही कर पाता। उसकी ममत्व बुद्धि, इच्छाए और तृष्णाए हनुमान की पूछ की तरह लम्बी से लम्बी बढ़ती चली जाती हे। वह चाहता तो यह है कि मुझे शान्ति मिले। धर्मात्मा पुरुष उस पर उपदेश के, अपरिग्रहवृत्ति से विरक्ति की प्रेरणा के कुछ छींटे भी डालते हैं, लेकिन वे परिग्रहवृत्ति की भड़कती हुई आग की लपटों से तुरंत ही शान्त हो जाते हैं।

पानी के छींटे

एक व्यक्ति एक बड़े कडाह मे दूध गर्म कर रहा है। कडाह भट्टी पर चढाया हुआ है। नीचे लकडियां तेजी से धधक रही हैं। अचानक दूध में उफान आता है तो वह पानी के छींटे देकर उसे शान्त करने का प्रयत्न करता है; किन्तु साथ ही मूर्खता यह करता है कि दो चार लकड़ियां भट्टी मे और झोंक देता है, भला बताइए कि दूध का उफान अब पानी के छींटों से बन्द कैसे होगा ?

इसी प्रकार की मूर्खता अधिकांश लोग कर रहे है। वे अशान्ति, कलह, द्वेष, सघर्ष आदि की उफान को बन्द करने के लिए प्रतिवर्ष 'शान्ति परिषद्' रूपी कुछ छीटे डालते रहते हैं, उधर अणु अस्त्र प्रयोग बन्द करने, युद्धबंदी करने की बातें चलाते रहते हैं; किन्तु उधर अपनी राष्ट्र-जीवन की भट्टी मे तृष्णा का, अधिक सामग्री बढ़ाने का, अधिक से अधिक शस्त्रास्त्र वृद्धि करने का ईन्धन झोकते रहते हैं। अब भला ऐसे राष्ट्र-वादी लोगो की मूर्खता और शान्ति के नाटको को क्या कहा जाय ? क्या सामग्रीवृद्धि, सग्रहबुद्धि और तृष्णावृद्धि से सघर्ष, युद्ध या विषमता का उफान बन्द हो सकता है ? ऐसे लोगो की बुद्धि पर तरस आती है, जो विश्व-शान्ति का एक ओर तो स्वाग रचते हैं, दूसरी ओर विश्व-अशान्ति के मूल कारण परिग्रहवृत्ति को छोड़ना नही चाहते। फिर चिल्लाते रहते हैं—"क्या करे रूस नही मानता है या अमेरिका इसके लिए तैयार नही है ?" यह तो उसी प्रकार की बात है कि एक व्यक्ति ने वृक्ष को जोर से पकड़ लिया और लगा चिल्लाने— "अरे, मुझे वृक्ष नही छोड रहा है, क्या करूं भाई ?" उस मूर्ख-शिरोमणि से कोई कहे कि वृक्ष को तुमने पकड रक्खा है या तुमको वृक्ष ने ? दुनिया की ऐसी मूर्खतापूर्ण हरकतें देख कर अक्ल गुम हो रही है कि क्या कहा जाय, ऐसे लोगो को जो स्वय ही परिग्रहवृत्ति के भूत को सिर पर चढाए हुए हैं और कहते है परिग्रह हमें छोड़ता नही ! सिक्के को एक दिन समाज ने आपसी सहयोग तथा विनिमय का साधन मान कर अपनाया था, लेकिन वही सिक्का, वही पैसा आज भूत बन कर

मानव समाज के सिर चढ़ बैठा है। एक दिन वस्तुओ के विनिमय का युग था। पृथक्-पृथक् व्यवसाय वाले व्यक्ति पृथक्-पृथक् वस्तुओ का उत्पादन या निर्माण करते और उन्हें देकर परिवर्तन में अपनी आवश्यक वस्तुएँ ले लेते थे। इस प्रकार के वस्तु-विनिमय से सग्रहलिप्सा, ममत्ववाद और तिजोरीवाद नही पनपने पाते थे और शीघ्र ही जीवन के सभी प्रश्न हल हो जाते थे, मनुष्य लोक-जीवन की आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार चीजो का उत्पादन या निर्माण करता था। शौकीनी, फैशन बढ़ाने या अधिक पैसे मिलने के लोभ से, अपनी वस्तु अधिक खपाने की ममता से नही करता था, किंतु उस भोले-भाले मनुष्य को न मालूम बैठे-बैठे क्या सूझा कि उसने सिक्के को बीच में दलाल बना लिया। वही सिक्का लफंगा बन कर आज मानव पर इतना हावी हो गया है कि मनुष्य उसका गुलाम बन बैठा है, उसके बिना एक दिन भी जीने की वह कल्पना नही कर सकता। लफगे के जितने भी गुण होते हैं, सब इस सिक्के मे आ गए। सिक्का वास्तव मे समाज की कल्पित वस्तु है। इसकी कल्पना सोने मे, चादी मे, चमड़े में, तांबे पीतल में, हीरेपन्नो के पत्थरो में और कागज में हुई। महत्त्व इन सब वस्तुओ का नही, महत्त्व है मनमाने कल्पित मूल्य का। अगर मनुष्य मिट्टी को भी सोने जितना महत्त्व दे दे तो मिट्टी भी सोने जितनी ही कीमती बन सकती है।

रांका और बांका

महाराष्ट्र मे पढरपुर में रांका और बांका ये दोनो प्रसिद्ध निर्लोभी, अपरिग्रहवृत्ति वाले भक्त हो गए है। एक बार संत

नामदेव ने उनकी परीक्षा लेने की ठानी और उनको निर्लोभता का चमत्कार दिखाने के लिए साथ मे एक आदमी को ले लिया। उस दिन राका और बाका दोनो जंगल में काष्ट काटने के लिए जा रहे थे। मार्ग में दैवयोग से अचानक एक थैली पर राका के पैर पड़े। खन् खन् आवाज भी आई। उन्होंने उसे सोना समझ कर उस पर धूल डाल दी, ताकि किसी का मन विचलित होकर श्रम-साधना से भटक न जाय। उसकी पत्नी बांका के पीछे-पीछे आ रही थी, उसने कहा—"यह क्या कर रहे हैं ?" रांका ने कहा—"यह सोने की थैली मालूम देती है, अगर इस पर धूल न डालू तो इसे देख कर तुम्हारा मन चलित हो जायेगा !" बाका ने कहा—"नाथ, यह धूल तो है ही, धूल को धूल से क्या ढाकना ? आप इसे भले ही सोना कहे, मेरी दृष्टि मे तो यह धूल ही है !" सत नामदेव और उनके साथ का व्यक्ति उनकी निष्परिग्रहीवृत्ति देख कर वड़े प्रसन्न हुए।

बुराइयो की जननी

किन्तु आज सारी दुनिया इस चमकती हुई धूल के पीछे अपनी जिंदगी बर्बाद कर रही है। कितनी अज्ञानता है ? आज समाज मे अर्थ इतना अधिक स्थान पा गया है कि दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति के मन मे भी येन-केन-प्रकारेण धन कमाने के सपने होगे। अर्थलोलुप मानव दानवता का चोगा पहने आज बुराइयो का नगा नृत्य कर रहा है। चोरबाजारी, रिश्वत-खोरी, मिलावट, तौल माप मे गडवडी, वरविक्रय, कन्याविक्रय, व्याजखोरी, सट्टा और सर्वतोमुखी शोषण इसी अर्थलोलुपता

को दानापानी देने के लिए होड़ मचा रहे है। कुछ लोग कहते हैं, दीर्घकालीन परतन्त्रता ही इसका मुख्य कारण है। कुछ विश्व-युद्धजनित परिस्थितियो को इसका कारण बताते हैं। किंतु गहराई से देखे तो पूंजी की अत्यधिक प्रतिष्ठा ही, अर्थ को मर्यादातीत महत्व देना ही इसका मूल कारण प्रतीत होगा। परिग्रहवृत्ति आज सभी बुराइयो की जननी बनी हुई है। छोटी से छोटी अनैतिकता से ले कर विश्वयुद्ध तक की बड़ी से बड़ी बुराई इसी अर्थवाद से अनुबन्धित है। 'अर्थो हि नः केवलम्' यह आज के लोगो का नारा बना हुआ है। अमेरिका रूपी स्वर्णमृग ने सभी देशो को—रामावतारों को अपनी माया के चक्कर मे फसा रखा है। अर्थवान् व्यक्ति दुर्गुणी हो तो भी उसकी समाज में इज्जत है और अर्थहीन व्यक्ति चाहे कितना ही सद्गुणी हो उसकी कोई पूछ तक नही, उसके साथ भाईचारा निभाने वाला भी नही मिलता। ऐसी परिस्थिति मे वह भी समाज मे अपनी प्रतिष्ठा बरकरार रखने के लिए येन-केन-प्रकारेण अर्थ से नेतृत्व प्राप्त करने, समाज मे बहुमान पाने और आमोद-प्रमोद के साधन जुटाने के लिए मनसूबे बांधता है। दिन-रात चिन्तित, दु.खित और श्रान्त रहता है, सुख से रोटी भी नही खाता, एकमात्र अर्थप्राप्ति की धुन उसे लग जाती है। और इस प्रकार अर्थसग्रह उसकी अनैतिकता के द्वार खोलने के लिए सन्नद्ध हो जाता है। समाज मे जब चारो ओर अर्थप्राप्ति द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करने की घुड़-दौड लगती है और अर्थ की ही तूती बोलती है तो बेचारी अपरिग्रहवृत्ति उपेक्षित विधवा की तरह एक कोने में असहाय

हो कर बैठ जाती है, उसे कोई अपनाता नही, आदर नही देता। स्वामी शकराचार्य के 'अर्थं मनर्थं भावय नित्य' को भूल कर 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति' की ही माला प्रायः सभी फेरने लगते हैं। इसी अर्थवाद के चक्कर ने श्रमजीवियो को भी आकर्षित कर लिया है और वे भी अपना असली सुख छोड़ कर इसके पीछे पड़ने का उपक्रम कर रहे हैं। किसी पुस्तक मे एक कहानी पढी थी कि हीरे माणिक जैसे चमकीले पत्थरो की कीमत मनुष्य ने कैसे दूसरे पत्थरो की अपेक्षा अधिक आक ली। कहानी कुछ इस प्रकार की थी—

हीरा और मानव

एक गाव मे किसानो के लड़के खेल रहे थे। एक लडके को खेत मे हीरा मिला। वह चमकीला पत्थर समझ कर उससे खेलने लगा। एक दूसरे लडके ने यह चमकीला पत्थर देखा तो उसने उस लड़के से मांगा। उसने नही दिया तो वह रोते-रोते अपने बाप के पास गया और कहने लगा कि "मुझे वह हीरा दिला दीजिए।" बाप असमजस मे पड गया। बोला—"हीरा क्या चीज है।" बेटे ने कहा—"एक चमकीला पत्थर।" उसका बाप उस हीरे वाले लड़के के पास गया और मांगने पर उस लड़के ने हीरा नही दिया तो वह उस हीरे वाले लड़के के बाप के पास गया और कहने लगा—"आप मुझे अपने लडके से वह हीरा दिलवा दीजिये, मैं आपको ५० रु० दूगा।" उस किसान ने ५० रुपये ले कर हीरा उसे दे दिया। फिर हीरा एक दूसरे लड़के ने मांगा तो उस लड़के के

बाप ने उसे ५०० रु० दे कर ले लिया। उसके पास से किसी ने दस हजार रुपये देकर वह खरीदा। इस तरह हीरे की कीमत बढी और एक लाख रुपये तक पहुंच गई। परन्तु उसकी कीमत तो एक सेर चावल जितनी भी नही थी। उस पत्थर से क्या किसी का पेट भरता ? मनुष्य ने ही अपनी कल्पना से उसकी कीमत बढाई थी। इसी प्रकार आज सिक्के की कीमत मनुष्य के दिल में अधिक है। पैसे पर उसका विश्वास इतना जम गया है कि अगर पैसा और परमेश्वर दो मे किसी एक का चुनाव करने को उससे कोई कहे तो वह पैसे को ही शायद चुनेगा क्योकि पैसे और परमेश्वर की राशि एक ही है !"

इच्छाएं आकाश के समान

इस पैसावाद ने मानव को जीवन की आवश्यकताएँ बढाने को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया है। ज्यो-ज्यो पैसा बढा, त्यो-त्यो मनुष्य ने अपनी जिंदगी को कल्पित सुख से भर देने के लिए जरूरियातें बढ़ानी शुरू की। नतीजा यह हुआ कि आवश्यकताओ और इच्छाओ का तो अन्त आया ही नही, क्यो कि

"इच्छाहु आकाससमा अणंतिया"

उत्तरा. अ. ६ गा. ४८

'इच्छाए तो आकाश के समान अनन्त है, अथाह हैं।' एक इच्छा को मनुष्य तृप्त करने जाता है इतने में तो अन्य अनेको इच्छाएं मनुष्य के सामने आ खड़ी होती है। सुरसा राक्षसी

की तरह वह हर समय मुह फाड़े ही रहती है, उसका पेट भरता ही नही है। राजस्थान के प्रसिद्ध सत सुन्दरदासजी ने क्या ही मार्मिक शब्दो मे कहा है :—

"जो दस, बीस, पचास भए, शत होए हजारन लाख मंगेगी।
कोटि, अरब्ब, खरब्ब असंख, पृथ्वीपति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पाताल को राज करो तृष्णा अधिको अति आग लगेगी।
'सुन्दर' एक संतोष बिना शठ! तेरी तो भूख कभी न भगेगी॥"

इच्छाओं का गुलाम

इसी विषय पर संत टॉल्स्टाय ने एक उद्बोधक कहानी लिखी है जिसमे यह बताया है कि किस प्रकार भूमि तथा सम्पत्ति का लालची एक किसान एक बार बिना दाम भूमि मिल जाने के लोभ मे पड़ कर अपने प्राणो से हाथ धो बैठा! बिना दाम भूमि पाने की शर्त यह थी कि सूर्य डूबने तक कृषक जितनी भी भूमि का चक्कर लगा कर पुनः अपने निश्चित स्थान पर पहुच जायेगा तो उसे उतनी सब भूमि मिल जायेगी। दिन भर बिना खाये पीये अधिक से अधिक चक्कर लगाने के लोभ मे फसा बेचारा किसान अन्त मे थक कर गिर पड़ा और निश्चित स्थान तक पहुचने के पूर्व ही मर गया। उसे अन्त मे जमीन मे दफनाने के लिए केवल ७ फीट लबी और २॥ फीट चौड़ी भूमि की आवश्यकता हुई।

इस शिक्षाप्रद कहानी द्वारा बड़े अनोखे ढंग से टॉल्सटाय ने यह समझाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार इच्छाओं का गुलाम बन कर मनुष्य मृग-मरीचिका मे फंस जाता है और

उसके पीछे दौडते-दौडते ही उसकी जीवनलीला समाप्त हो जाती है ! जो इच्छाओं का दास नही बनता, उसके पीछे सारे संसार का धन दौड़ता है, आशा के पाश से मुक्त मनुष्य जगत् का बन्धु हो जाता है, उसके वश मे सारा जगत् हो जाता है।

प्रलय नहीं प्रणय

अपरिग्रह की भव्य भावना यदि मानव के मन मे अठखेलियां करने लगे तो प्रलय के बादल जो उमड़-घुमड़ कर छा रहे हैं वे प्रणय की बूंदो के रूप मे वरस सकते हैं। अपरिग्रह के द्वारा जो शान्ति स्थापित हो सकती है वह तलवार तथा अणुबम से कदापि सभव नही। दिनकर के शब्दों में कहा जाय तो—

ऐसी शान्ति राज्य करती है
तन पर नहीं हृदय पर।
नर के ऊंचे विश्वासों पर
श्रद्धा भक्ति प्रणय पर॥

एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है—"हमारे पास जितना कम परिग्रह होगा उतने ही हम महान् होगे। अतः अपरिग्रह-वृत्ति को अपनाइये और जीवन को उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाइये।

तृष्णा : द्रौपदी का दुकूल

मानव शान्ति की शोध मे चिरकाल से प्रयत्नशील है। वह शान्ति चाहता है और उसके लिए अहर्निश प्रयत्न भी करता है। पर द्रौपदी के दुकूल की भाति तृष्णा निरन्तर बढ़ती रहती है। पदार्थ ससीम है और तृष्णा असीम है। पेट भर सकता है पर मन कदापि नही।

सभूम भारत का एक बहुत बडा चक्रवर्ती सम्राट् था। जिधर भी जाता उधर उसके पैरो के नीचे ऐश्वर्य लुढकता था, देवता भी उसकी सेवा करते थे, और हजारो सम्राट् उसके चरणो की धूल लेने के लिए लालायित रहते थे। छह खण्ड का अधिपति बनने पर भी उसके अन्तर्मानस मे शान्ति नही आई, और शान्ति की शोध मे—सातवें खण्ड को साधने के लिए चल पड़ा, किन्तु वह स्वय नष्ट हो गया। अतः शान्ति के शोधकों को इच्छाओ पर ब्रेक लगाना चाहिए। इच्छाओ के निरुन्धन मे ही सच्ची शान्ति है।

विषमता का कारण

परिग्रह के कारण आज सर्वत्र विषमता के सन्दर्शन हो रहे है। एक ओर अर्थ के अम्बार लगे है तो दूसरी ओर एक-एक टके के लिए तरस रहे हैं। एक ओर गगनचुम्बी अट्टालिकाए

चमक रही है तो दूसरी ओर टूटी-फूटी झोंपड़ियां भी नसीब नही है। एक ओर चादी की चटनियां खाई जा रही हैं तो दूसरी ओर मिर्ची का मसाला भी नही है। एक ओर घी से छकछकाये पकवान् उड़ाये जा रहे है तो दूसरी ओर लूखे-सूखे टुकड़े भी नही है। एक ओर रेशम और उन के बढिया से बढिया दुशाले ओढे जा रहे है तो दूसरी ओर फटी-पुरानी गुदडी भी नही है। सामाजिक विषमता का चित्रण दिनकरजी ने इस प्रकार चित्रित किया है—

श्वानों को मिलता दूध, वस्त्र
भूखे बालक अकुलाते हैं।
मां की हड्डी से चिपक ठिठुर
जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा} वसन बेच
जब ब्याज चुकाने जाते हैं
मालिक तब तेल फुलेलों पर
पानी सा द्रव्य बहाते हैं।

इस विषमता को मिटाने के लिए अनेक वाद आये, प्रतिवाद हुए पर आर्यावर्त के महामानव भ. श्री महावीर ने जो अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त दिया उसकी समकक्षता कोई भी नही कर सका है। यह विषमता के स्थान पर समता का सृजन करता है।

परिग्रह पाप है

जैन दर्शन ने परिग्रह को पाप माना है और उसे नरक

का कारण माना है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में नरक जाने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

'वह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः'

बहुत आरम्भ और परिग्रह नरक के कारण हैं। इसके विपरीत अल्पारम्भ और अल्प परिग्रह मानव जन्म प्राप्त करने के कारण हैं।

"अल्पारम्भ ऽ परिग्रहत्वं मानषस्य"

माया और छाया

अपरिग्रह का सम्बल ले कर यदि आप चलेंगे तो जीवन में शान्ति आपके चरण चूमेगी। माया और छाया एक सहारा है। छाया के पीछे दौड़ने से जैसे वह हाथ नही आती, छाया को पीठ कर दौडने से ही वह पीछे-पीछे आती है, यही स्थिति माया की भी है। किन्तु जो व्यक्ति वैभव या ऐश्वर्य पाने की इच्छा से किसी दूसरे की देखादेखी किसी वस्तु का त्याग करता है, मन मे बडी-बडी आकाक्षाएँ पाने की रखता है, वह तो और ज्यादा दयनीय स्थिति मे पहुँच जाता है। न माया ही हाथ लगती है और न भगवान् ही। किन्तु जो स्वेच्छा से अपनी स्वत.स्फूर्त अन्त प्रेरणा से वैभव होते हुए भी ठुकरा कर चल देता है, सादगी से कम से कम आवश्यकताओ से अपना जीवन गुजारता है, उसके पीछे माया अवश्य चक्कर काटती है। पर वह ऐसा पक्का होता है कि माया के चक्कर मे फिर आता नही।

दो प्रसग

एक सम्राट था। वृद्ध होने पर उसके मन मे विचार

आया—"मैं तो राजपाट भोग चुका, अब पुत्र राज्य संभालने लायक हो गये हैं। सारी उम्र माया के पीछे लग कर, इच्छाओं के पीछे दौड कर बिताई है, अब मुझे इनको वश मे कर के भगवद्भजन करना चाहिए।" सम्राट ने अपने विचार को अपने मत्री के सामने प्रस्तुत किया। उसने भी इस विचार का समर्थन किया। युवराज को तो यह तजवीज और भी पसंद आई, पर पिताजी का अपने से दूर रहना अखरता था। निदान, राजा ने दृढ निश्चय कर के युवराज को राजगद्दी पर बिठा कर वनगमन की तैयारी की। साथ मे क्या-क्या ले जांय, इसका विचार होने लगा। बरतन भी जरूरी हैं, सामान और बिछौना उठाने के लिए कम से कम एक नौकर भी चाहिए, ताकि वही रसोई बना दिया करे और अन्य सेवा कर दिया करे। पुत्र ने बहुत कुछ कहा कि सवारी के लिए घोड़ा लेते जाइए तथा नौकर-चाकर और ले जाइए। लेकिन सम्राट को अपरिग्रहवृत्ति का रग लग चुका था। वह तो एक सेवक को साथ लेकर पैदल ही महल से बाहर चल पड़ा। नगरवासी और युवराज शहर की हद तक सम्राट को पहुँचाने आए। सम्राट न्यायी और प्रजाप्रिय था, इसलिए प्रजाजनों ने आंसू के साथ उन्हें विदाई दी। युवराज पिता के वियोग से अधीर हो रहा था। समझा - बुझा कर सम्राट ने उसे भी विदा किया। अब सम्राट और एक नौकर दोनो चल रहे थे। कुछ दूर जाने पर राजा को बहुत जोर की प्यास लगी, उन्होने नौकर से पानी लाने को कहा। कुछ ही दूर एक झरना बह रहा था, नौकर लोटा गिलास ले कर वहाँ दौड़ा गया। सम्राट

ने सोचा—"चलो, मैं भी तो झरना देख लू । यो सोच कर वह भी उधर ही चल पड़ा । नौकर लौटे मे पानी भर ही रहा था कि एक किसान आया, उसने झरने मे हाथ-मुंह धोए, फिर दोनो हाथों से पखे को पानी इधर-उधर हटाया और चुल्लू से पानी पीने लगा । सम्राट की उस पर दृष्टि पड़ी तो आश्चर्य से चिल्ला कर नौकर से कहा—"अरे देख, यह तो बिना गिलास के चुल्लू से ही पानी पी रहा है ।" नौकर बोला—"हुजूर, गांवो के लोग तो यो ही पानी पिया करते हैं ।" सम्राट ने कहा—"तो पहले क्यों नही बताया, जब सामान लिया जा रहा था, हम लोटा गिलास व्यर्थ ही लाये ।" सम्राट को इस बात से बड़ा आनन्द आया और ईश्वर कृपा का प्रसाद समझ कर उसने भी अपने नौकर से कह दिया—"ले, यह लोटा गिलास किसी गरीब को दे दे । ईश्वर ने जब हाथ दिये हैं तो फिजूल इस बोझ को क्यो लादे ?" नौकर ने सम्राट को बहुत समझाया, पर उसने एक न मानी ।

दोपहर का वक्त हो गया था । खेत के किनारे पेड़ की छाया में सम्राट का भोजन पक रहा था । राजा बैठा-बैठा अपने पिछले जीवन का सिंहावलोकन कर रहा था । आज कुछ घटो के लिए उसे जो आनन्दानुभव हुआ, वह पिछले ७० वर्षों मे नही हुआ । इतने मे एक किसान पास के खेत से आया । कपड़े मे बधी हुई मोटी रोटियां निकाली और एक हथेली पर रोटी रख ली, उसी पर चटनी और दूसरे हाथ से खाने लगा । सम्राट की निगाह उस पर पड़ी, उसे फिर आनन्द का नया सबक मिला । चट नौकर से कहा—"अरे देख तो, हम थाली

नाहक लाए। रोटी तो इन्सान हाथ पर रख कर भी खा सकता है।" नौकर बोला—"महाराज, किसान तो इसी तरह खाया करते हैं।" राजा ने झल्ला कर कहा—"अरे भले आदमी, पहले घर पर क्यों नही बता दिया ?" नौकर ने कहा—"सरकार, आप ठहरे राजा, आप से यह सब कैसे होता ?" सम्राट बोला—"पर मैं तो सन्त बनना चाहता हूं। मनुष्य-राज्य से हट कर ईश्वर-राज्य मे पहुचना चाहता हू। मनुष्य-राज्य तो बनावटी आवश्यकताओ का गुलाम बनाता है, ईश्वर-राज्य स्वाधीन, स्वयपूर्ण और स्वावलम्बी। ले, अब इन बर्तनों को मुझे कोई जरूरत नही है।" रोटी खा कर किसान अपने बांये हाथ का सिरहाना दे कर उसी घास पर सो गया और ऐसी गाढ़ी नीद लेने लगा कि राजा को वैसी नीद सारी उम्र मे नसीब नही हुई थी। राजा मन मे बड़ा प्रसन्न हुआ और इस नये आनन्द के सबक के लिए ईश्वर को धन्यवाद देने लगा। उसने नौकर से कहा—"देख, मुझे आज कुदरत का सच्चा आनन्द मिल रहा है। फेंक इस बिस्तर को, तू भी घर लौट जा, ईश्वर की कृपा से मुझे तेरी और इस सामान की कतई जरूरत नही है। मुझे अकेला अपने हाथ-पाव के भरोसे रहना है, अपने हाथ-पाव से काम लूगा और प्रभुमय जीवन विताऊगा।" नौकर बेचारा राजा को समझा-बुझा कर थक गया। अन्त मे निरुपाय हो कर वापिस लौट गया।

दोपहर राजा ने उस किसान की तरह उसी घास पर सो कर काटी और चलते-चलते शाम को एक बड के पेड के नीचे आ कर बैठा। ईश्वर-चिन्तन मे डूब गया। इतने में ही

एक आदमी झाडू ले कर आया और हाथ जोड़ कर खडा हो गया। सम्राट की आखें खुली तो पूछा—"तू कौन है ? हाथ बाधे क्यो खडा है ? यहा क्यो आया है ?" उसने कहा—"मैं देवदूत हू, मुझे ईश्वर ने आपकी सेवा के लिए भेजा है, मुझे सफाई करने का हुक्म हुआ है।" राजा बोला—"तो भाई, चला जा, मुझे तेरी सहायता की आवश्यकता नही। स्वयं मेरे ही नौकर-चाकर क्या कम थे, जो मै ईश्वर को कष्ट मे डालता ? ईश्वर से कहना, मुझे आपके सिवाय किसी की जरूरत नही।" थोडी देर में वह झाडू वाला फिर झाडू ले कर आ गया और वहा से जगह बुहारने लगा। राजा ने कहा—"तू फिर आ गया ?" देवदूत बोला—"जी हा, ईश्वर का आदेश है कि आपसे कुछ न पूछू और आदेश की तामील करता रहू।" राजा चुप रहा। मन मे सोचा, "करने दो, अपने से क्या मतलब है ! उसके फर्श पर तो हमे बैठना ही नही है। राजमहल मे यह सुख-विलास क्या कम था ?" भोजन के समय वही आदमी एक थाल ले आया, जिसमे तरह-तरह के मिष्ठान्न व पक्वान्न थे। राजा ने कहा—"भाई, तुम मुझे क्यो तग करते हो ? मुझे तो इसमे से कुछ खाना नही है।" 'मुझे जो आदेश हुआ है, उसी की तामील कर रहा हू।" देवदूत ने उत्तर दिया। राजा ने वह खाना गरीबो को खिला दिया और खुद जो फल जगल से बीन कर लाया था, उन्हें खा कर घास के गद्दे पर सो रहा। अब रोज-रोज यही सिलसिला चलता रहा। थोडे ही दिनो मे चारों ओर यह शोहरत फैल गई कि कोई बड़ा पहुचा हुआ महात्मा आया है। रोज-रोज न जाने कहा से

नया-नया फर्श आ कर विछ जाता है, वढिया भोजन का थाल आता है। वडा करामाती है। दर्शकों और भक्तो का ठाठ जमने लगा। एक किसान अपनी गरीबी से वडा वेजार था। उसने सोचा—"इस महात्मा से कोई उपाय पूछें, यह नगे हाथ आया था और रोज इतना ठाठ कैसे लगा लेता है ?" वड़े भक्तिभाव से प्रणाम कर के एक रोज उस किसान ने अपनी गरीबी का दुखड़ा राजर्षि को सुनाया। वह वोला—"महाराज, मुझे भी तरकीब वता दो, जिससे इसी तरह मेरा भी ठाठबाट लग जाय, घर वैठे थाल आ जाया करे।" राजा वोला—"भई, मै तो खुद तरकीव नही जानता, ईश्वर का नाम लेता हू, वही भेज देता है।" "तो महाराज, मुझे तो वह नही भेजता ? आप तो कुछ नही लेते, फिर भी वह जबरदस्ती भेजता है और हम रोज उसे पुकारते है, फिर भी वह नही सुनता।" किसान ने प्रतिप्रश्न किया। राजर्षि बोला—"भई, मैं राजा था। मैंने उसके नाम पर राजपाट सब छोड़ दिया और जंगल मे आ कर रहने लगा। तो उसने वह ठाठ यहा पर भी लगा दिया, मगर मुझे इसकी जरूरत नही है। तू भी ईश्वर के नाम पर सब कुछ छोड दे। इसके सिवा मैं तुझे और क्या रास्ता बताऊ ?" किसान खुशी-खुशी अपने घर दौड़ा आया। घरवाली को पुकार कर दरवाजे से ही कहा—"अरी सुन ! उस वड़ वाले महात्मा ने एक तरकीब बताई है। अपना सब दलिदर दूर हो जायेगा। कल से मैं ईश्वर के नाम पर घरबार, खाना-पीना सब छोड़-छाड़ कर एक पेड़ के नीचे आसन जमा कर बैठ जाऊगा। आज घर मे जो कुछ भी घी-गुड़ हो, उसका हलुआ

पूरी बना दे, न जाने कितने दिन भूखा रहना पड़े।" वह बोली—"तुम पागल तो नही हो रहे हो ? क्या बहकी-बहकी बाते कर रहे हो ?" किसान ने हाथ उठा कर कहा—"अरी, तू देर मत कर। निहाल हो जाने की तरकीब ढूढ लाया हू, जल्दी कर।" बेचारी किसान की पत्नी ने जो कुछ भी घर में अच्छी चीज थी, उसका खाना बना दिया। खाना खा कर किसान सीधा गया और एक वृक्ष के नीचे अपना आसन जमा दिया। "आज भूखे-प्यासे बैठे मुझे दो दिन हो गए लेकिन देवदूत क्यो नही आया ? इस महात्मा ने कही चकमा तो नहीं दे दिया ? दो दिन की कमाई से भी गया, भूखा मरा सो अलग।" यो किसान रह-रह कर मन मे सोच करने लगा। जब कोई आदमी आता नही दिखाई दिया तो वह ईश्वर को फटकारने लगा। इतने ही मे थाल हाथ मे लिये एक आदमी आता दिखाई पड़ा। किसान ने आतुर हो कर पुकारा—"तू देवदूत है ?" वह बोला—"हा"। "तो अब तक कहां मर गया था ? ला, जल्दी ला, क्या-क्या लाया है ? दो दिन से पेट मे कुछ भी नही डाला है", किसान ने कहा। और ज्यो ही देवदूत ने थाल आगे बढाया तो उस मे तीन चार मोटी रोटिया और प्याज के सिवाय कुछ नही था। किसान जल-भुन कर खाक हो गया। उसने थाली उठा कर देवदूत के सिर पर दे मारी और डाटते हुए कहा—"शर्म नही आई तुझे रोटी और प्याज लाते हुए ? उस राजा को तो छप्पन भोग और मुझ गरीब को वही प्याज रोटी ! अरे, यह तो मैं रोज ही खाता था। इसी के लिए दो दिन भूखो मरने की क्या जरूरत थी ? जा,

पुनः ले जा और भगवान् से कह कि उस महात्मा जैसे ठाठ लगा दें तो खाना खाऊंगा।" देवदूत ने भगवान् से आ कर सारा किस्सा सुनाया। उन्होने कहा—"उसे समझा दो कि राजा ने जो मेरे नाम पर छोडा था, वह उसे दे दिया, तूने जो छोडा सो तुझे भेजा। तू तो इसका भी अधिकारी न था। राजा का त्याग और अपरिग्रहवृत्ति तो निष्काम और सच्ची थी, वह अब भी तो मेरी भेजी हुई चीजों का उपयोग नहीं कर रहा है।"

दरिद्र कौन ?

यह है अपरिग्रहवृत्ति के आनन्द और वाह्यरूप से छोड़ देने पर भी मन मे परिग्रहवृत्ति से दु.ख का नमूना ! आप अब अपरिग्रहवृत्ति के रहस्य को और उसके सच्चे आनन्द को समझ गये होंगे। दरिद्र वह नही है, जिसके पास खाने-पीने को कुछ नही है। वह तो अपरिग्रहवृत्ति की मस्ती मे शाहों का शाह है। दरिद्र वह है जिसकी तृष्णा महाकाय है, विशाल है। एक कवि ने कहा है—"को हि दरिद्रस्तृष्णा विशाला।" जिसकी आवश्यकताएँ बढी हुई हैं, जिसे आवश्यकता-अनावश्यकता का विवेक नही है, पेटियो पर पेटियाँ कपड़ो से भरी हुई हैं, दुनिया भर के गहने इकट्ठे किये हुए हैं। रहने के लिए एक मकान चाहिए, लेकिन कई कोठियाँ और बंगले खड़े किये हैं। खाने के लिए थोडा-सा अनाज चाहिए, लेकिन पचासों पकवान और ऊपर से चूर्ण-चटनी ! मानो पेट कोई मालगोदाम ही हो, वही जीवन का दारिद्रय है। संग्रह की भी कोई मर्यादा है, कुछ सीमा है ?

राष्ट्र की शान

अभी-अभी कुछ वर्ष पूर्व उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति हो. ची. मिन्ह भारत आए थे तो उनकी सादगी और अपरिग्रहवृत्ति देखने योग्य थी। उनका जीवन इतना सादा है कि सिर्फ दो खाकी सूट, एक खादी टोपी, एक तौलिया, दो जोड़े मोजे, यही उनके पास है। वैसे तो उनका घर साधारण आदमी के घरों की तरह बांस का बना हुआ है, जिसमे सिर्फ दो कमरे हैं, एक शयनकक्ष और दूसरा पढ़ने-लिखने का। अध्ययन कक्ष मे सिर्फ एक मेज, तीन कुर्सियाँ और एक टाइप राइटर है। शयनकक्ष मे सिर्फ एक खाट, एक बिछौना और कुछ ओढने के वस्त्र हैं। जब वे वियतनाम के राष्ट्रपति चुने गये तो उन्होने निश्छल भाषा मे कहा था—"मुझे राष्ट्रपति इसलिए चुना गया है कि मेरे पास ऐसी कोई चीज नही, जिसे मैं अपनी कह सकूं। न मेरा अपना मकान हैं, न परिवार और न भविष्य की चिन्ता। राष्ट्र का ही सब कुछ है। राष्ट्र ही मेरा भविष्य और परिवार है।" यह त्याग व सादगी भगवान् महावीर के युग के श्रावकों की स्मृति ताजी कर देता है जो 'नन्नत्थ एगेणं खोमजुयलेण, अवसेसं सव्व वत्थ विहिं पच्चक्खामि' यो सिवाय एक जोड़े कापसिवस्त्र के अन्य सब वस्त्रो का प्रत्याख्यान कर देते थे। राजनैतिक क्षेत्र मे उनका यह अपरिग्रहवृत्ति का आदर्श प्रेरणा का स्रोत है। आज के हमारे राष्ट्र-नेताओ को इस जीवन से यह सीखना चाहिए कि राष्ट्र की शान-शौकत वैभव के प्रदर्शन मे, चमचमाती कारो मे

घूमने में, हवाई जहाजो मे उड़ने मे, लम्बे-चौड़े भव्य प्रदर्शनों मे नही है, अपितु सादगी और अपरिग्रहवृत्ति मे है ।

सग्रह माँ की तरह

हाँ, तो जिसके जीवन मे आवश्यकताएँ अत्यन्त कम हो जाती हैं, उसे अपने जीवन मे अभूतपूर्व आनन्द की स्वतः उपलब्धि होती है । वह जहाँ भी चला जाता है, जीवन मे मस्ती बनी रहती है । सुख-शान्ति की चाबी उसे मिल जाती है । जिसका सग्रह जितना ज्यादा होता है, उसे सभालने मे, नष्ट होने पर, प्राप्त करने मे उतना ही दु.ख उठाना पड़ता है । अगर संग्रह ही करना हो तो माँ की तरह करना चाहिए । घर मे माँ भी रोटियाँ बना कर कटोरदान मे सग्रह करती जाती है और घर के सभी लोगो को खिलाती रहती हैं, बचती है तो खुद खाती है । उसके उस सग्रह मे गौरव है, त्याग की वृत्ति उसके पीछे है । इसी प्रकार आप लोग भी अपने जीवन मे संग्रह के औचित्य को अवश्य परखे ।

प्रतिष्ठा का परिग्रह

इसके अतिरिक्त मनुष्य को प्रतिष्ठा बढ़ाने की भी बहुत आसक्ति होती हैं । वह चाहता है, मेरा नाम दुनिया में फैल जाय । इस प्रकार प्रतिष्ठा का परिग्रह भी अर्थ-परिग्रह को बुला लेता है । मनुष्य अपनी क्षणिक प्रतिष्ठा को बरकरार रखने के लिए अनेक प्रकार के उखाड़-पछाड करता है, थोड़ा-सा किसी ने कुछ कह दिया तो उसके अभिमान को चोट लगती हैं और नाग की तरह फन फैला कर वह कहता है कि

जानते हो मुझे, मैं कौन हूँ, हड्डी-पसली एक कर दूंगा। हजारो रुपये झूठी प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए फेंक देता है। इस प्रकार परिग्रह का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। शरीर कर्म, शिष्य आदि के प्रति आसक्ति भी परिग्रह की कोटि मे ही है। असत्य मान्यताएँ, निष्क्रिय विचार जो जीवन के लिए घातक हैं वे भी एक दृष्टि से परिग्रह ही हैं।

अपरिग्रह साधना का सच्चा सौन्दर्य है। मैं आशा करता हूँ, अगर आप जीवन मे सच्ची मस्ती चाहते हैं, सच्चा आनंद चाहते हैं, सच्ची साधना की मुस्कान खिलाना चाहते हैं तो अपरिग्रहवृत्ति पर अंकुश लगाते जाइये। आपको अपने साध्य मे सफलता मिलेगी, आपका जीवन प्रकाशमय बनेगा।